कविकोकिल विद्यापति



देसिल वयना सभजन मिट्ठा

डॉ. नोदनाथ मिश्र



कविकोकिल विद्यापति

डॉ. नोदनाथ मिश्र



अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन्स
दिल्ली-9

यह पुस्तक केंद्रीय हिन्दी निदेशालय (मानव संसाधन विकास मंत्रालय) के संस्वीकृति पत्र संख्या 5/14/2014 के.अनु.ए. दिनांक 20.2.2015 के माध्यम से प्राप्त वित्तीय सहायता से प्रकाशित हुई है। कापीराइट अनुदान ग्राही के पास है।

प्रकाशन-वितरण

अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन्स

विजय नगर, दिल्ली - 110009

फोन - 8802451208

प्रथम संस्करण : 2015

ISBN : 81-87322-80-2

मूल्य : ₹ 90/-

मुद्रक :

अमर प्रिंटिंग प्रैस, दिल्ली-9

9871699565

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक विद्यापति-परिचायिका के साथ मिथिला-मैथिली की निर्देशिका भी है। संस्कृत वाङ्मय के उत्कर्ष-युग में, न्याय-दर्शन-मीमांसा के क्षेत्रों में मैथिल विद्‌वानों की पाण्डित्य वैजयन्ती बौद्धिक जगत में शान से फहराती थी, जिसकी चर्चा आज भी देश-विदेश के विज्ञजनों द्‌वारा सम्मानपूर्वक की जाती है। जब लोकभाषाओं में वहाँ के कवि-मनीषियों की रुचि जाग्रत होने लगी तो इस कड़ी में भी मिथिला के विद्‌यापति ठाकुर अग्रगण्य माने जाने लगे। आज भारत के किसी भी कोने में मिथिला की पहचान के प्रतीक हैं। प्रथमतः संस्कृत मणिमाला के दमकते वे मौक्तिक दाने एवं लोकसाहित्य-उद्‌यान में ऋतुराज लाने वाले मैथिल कविकोकिल विद्यापति। मैथिली साहित्य का यह विशाल प्रासाद अगर किसी एक स्तम्भ पर खड़ा है तो वे विद्यापति हैं। मैथिली साहित्य के इस विशाल वटवृक्ष की जो जड़ सब से अन्दर तक गई है, उसका नाम विद्‌यापति है। वस्तुतः यह कविकोकिल की काकली का ही प्रभाव है कि मैथिली काव्योपवन में वसन्त का साम्राज्य व्याप्त हो गया।

कहते हैं, कोकिल वसन्त का संवाहक है। उसकी कूक मीठी होने के साथ ही सुदूरव्यापिनी होती है। और, जहाँ तक उसकी आवाज सुनाई पड़ती है, वहाँ तक लोगों के कान में मधुर ध्वनि गूँजने लगती है। साहित्य के उद्यान में नव-नव किसलय फूटने लगते हैं, कलियाँ खिलने लगती हैं, मन झूमने लगता है।

विद्यापति के पद को कोकिल की कूक इसलिए कहा गया कि उसकी तान मिथिला की सीमा के बाहर बंगाल, उड़ीसा, असम एवं नेपाल तक सुनाई पड़ती थी और सुननेवालों के कानों में सुधारस घोल देती थी। उन सभी साहित्यों में भी ऋतुराज का आगमन हो गया। उनके स्रष्टागण प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से विद्‌यापति से प्रभावित होते गए। एक नई भाषा (ब्रजबुलि) की सृष्टि भी हो गई। फलतः समस्त पूर्वांचल में विद्‌यापति छा गए।

मैं समझता हूँ कि आज भी इन साहित्यों के मर्मी अध्येतागण अवश्य ही विद्यापति की पदावली से परिचित होंगे। हिन्दी और बंगला में तो न जाने कितने ग्रन्थ विद्यापति पर लिखे जा चुके हैं और आगे भी लिखे जाते रहेंगे। लेकिन, वे ग्रन्थ उच्च बौद्धिक वर्गों के लिए ही उपयोगी हैं, कारण वे या तो शोधग्रन्थ हैं अथवा उच्च स्तर के समीक्षा-ग्रन्थ सामान्य जन प्रायः वहाँ तक नहीं पहुँच पाते हैं।

विद्‌यापति जनसामान्य के कवि हैं। इनके पद सामान्य जनों के सरोकार से निकल कर आये हैं। अतः आज भी वे पद प्रासंगिक हैं। लेकिन, उनकी ख्याति मिथिला के बाहर जन-जन में जो पहले थी, अब क्रमशः शायद पतली होती जाती है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि बंगाल, उड़ीसा, असम में वर्तमान में आम पाठकों की इनके विषय में जानकारी का न होना हो और उसके समक्ष इनके पदों की अनुपलब्धता हो।

यह ग्रन्थ इसी अभाव की पूर्त्ति की दिशा में एक सार्थक प्रयास है। इसमें विद्‌यापति के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं का उल्लेख रोचक शैली में किया गया है। ये मिथिला के बड़े ही

विद्वान परिवार के वंशज थे। इनके पूर्वज ओइनवार राजाओं के राजपण्डित हुआ करते थे। ये भी राजा शिवासिंह के राजकवि और उनके मुख्य सलाहकार थे। ये संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे और एक दर्जन से अधिक ग्रन्थों के रचयिता थे। अबहट्ठ में भी इनके दो ग्रन्थ हैं। किन्तु आज इनकी ख्याति के आधार हैं मैथिली भाषा में रचित इनके गीत, जो लिखे तो गए थे राजा के प्रीत्यर्थ अथवा ईश्वर की स्तुति में, किन्तु उनमें समस्त मानव जाति के शाश्वत गुण अनायास ही प्रस्फुटित हो गए हैं, जिसका विश्लेषण विद्वान् लेखक ने स्पष्टता से किया है; साथ ही उनके कुछ प्रसिद्ध गीत, हिन्दी अर्थ सहित, परिशिष्ट में संगृहीत भी कर दिया है, जिसके माध्यम से पाठकगण साक्षात् उनकी मिठास से परिचित हो सकें और गुनगुना सकें।

इसीलिए इस ग्रन्थ को मैंने 'विद्यापति-परिचायिका' कहा है। किन्तु, यह इतना ही नहीं है। विद्यापति ने जिस मिथिला में जन्म लिया था, उसका अपना एक अलग महत्त्व है, गौरव भी है। जनक-जानकी की भूमि मिथिला का परिचय, इसके विभिन्न नाम, भौगोलिक एवं प्राकृतिक विस्तार, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ ही यहाँ के सांस्कृतिक उत्कर्ष एवं कला-प्रकर्ष, साहित्य-संगीत एवं लोकपर्व पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। पंजी-प्रबन्ध मिथिला की खास वस्तु है। लगभग सात सौ वर्षों से चले आ रहे ब्राह्मण एवं कायस्थ जाति के वंश-परिचय का यह प्रामाणिक अभिलेख है, जिसमें वर्तमान से 26-27 पीढ़ी ऊपर तक के पूर्वजों के नाम क्रमबद्ध अंकित हैं, वह भी उनकी व्यक्तिगत उपलब्धियों के साथ तथा उनके पितृ-मातृ दोनो पक्षों के कुल-गोत्र-शाखा परिचय सहित। विद्यापति का प्रामाणिक कौलिक

परिचय उक्त अभिलेख से ही प्राप्त हुआ है। इन अभिलेखों के माध्यम से मिथिला के सामाजिक-सांस्कृतिक अनेक पक्ष उजागर हुए हैं। लेखक ने पंजी-प्रबन्ध के प्रसंग में समुचित प्रकाश डाला है।

मैथिली एक स्वतंत्र समृद्ध भाषा है। इस सम्बन्ध में दूसरी भाषाओं के हमारे कुछ बन्धुओं के मन में अनाघ्रात भ्रान्तियाँ हैं। विद्वान् लेखक ने भाषाविज्ञान के मान्य सिद्धान्तों के आलोक में मैथिली के भाषात्व को सिद्ध किया है, निकटवर्ती अन्य भाषाओं यथा बंगला, असमिया, उड़िया और बिहारी भाषाओं में मगही तथा भोजपुरी से इसकी पृथकता को दर्शाया है, मैथिली की बोलियों से परिचित कराया है एवं इसके स्वतंत्र लिपि की विशेषताओं का उल्लेख किया है। राजनीतिक कारणों से वर्तमान में यद्यपि मैथिली की स्वतंत्र लिपि तिरहुता (मिथिलाक्षर) का प्रचलन बहुत कम हो गया है, किन्तु मैथिली साहित्य की प्राचीन निधि (यहाँ तक कि विद्यापति की कृतियों की मूल प्रति भी) तिरहुता में ही है। मिथिला-मैथिली से सम्बद्ध जरूरी जानकारियों का संचयन एक जगह पर होने के कारण यह पुस्तक 'मिथिला-मैथिली की निर्देशिका' भी बन गई है।

भाई डॉ. नोदनाथ मिश्र 'यशस्वी' संस्कृत साहित्य के विद्वान् हैं। मैथिली एवं हिन्दी साहित्य में भी इनकी गम्भीर पकड़ है। साहित्य एवं भाषाविज्ञान उभय शास्त्र-अभिज्ञ हैं। सर्वोपरि ये मजे हुए निबन्धकार हैं। इनकी कई पुस्तकें संस्कृत-हिन्दी में आ चुकी हैं। मैथिली भी इनकी कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा से लाभान्वित हुई है। इस ग्रन्थ के माध्यम से इन्होंने मैथिली की ही महती सेवा की है। मिथिला की संस्कृति-संगीत-कला के अलावे मैथिली भाषा-साहित्य के साथ विद्यापति को वृहत्तर क्षेत्र के

विद्वानों एवं आम जनों के सम्मुख पुनः प्रस्तुत करने के इस प्रयास के लिए सहृद्-सुहृद् लेखक महोदय को मैं हार्दिक बधाई देता हूँ। यह ग्रन्थ श्रीयुत 'यशस्वी' जी की यशस्विता में चार चांद लगाएगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

दरभंगा
जानकी नवमी
(वैशाख शुक्ल नवमी)
दि.27 अप्रैल 2015 ई.

प्रो॰ भीमनाथ झा
पूर्व प्राचार्य विश्वविद्यालय मैथिली विभाग
ललित नारायण मिथिला
विश्वविद्यालय, दरभंगा

भूमिका

कविकोकिल विद्‌यापति हिंदी के उस आरंभिक युग के कवि हैं, जब साहित्य रचना के क्षेत्र में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का प्रचलन था और लोकभाषाएँ ग्रामीण जनता तक ही सीमित थी। विद्‌यापति का संस्कृत, अपभ्रंश और अवहट्‌ठ में विशेष पांडित्य था और इसीलिए विद्वत्समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी। एक ओर विद्‌यापति हिंदी साहित्य के वीरगाथा काल का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो दूसरी ओर हिंदी में भक्ति और श्रृंगार की परंपरा के प्रवर्तक भी माने जाते हैं।

तत्कालीन साहित्य की वीरगाथामयी प्रवृत्ति के अनुसार विद्‌यापति ने युद्ध का अत्यंत सजीव और मनोरम वर्णन किया है। उनकी अपभ्रंश रचनाओं (कीर्तिलता और कीर्तिपताका) में उनका वीर कवि का रूप प्रकट हुआ है। दूसरी ओर लोकभाषा (मैथिली) में लिखे गए पदों और गीतों के संकलन 'पदावली' में हिन्दी भाषा के श्रृंगार हैं। ये गीत गीतिकाव्य-परंपरा के प्रवर्तक हैं और इस बात के द्‌योतक हैं कि हिंदी लोकभाषा के रूप में, उस समय, कैसे पनप रही थी तथा कैसे आगे चलकर लोकभाषा के क्षेत्र से निकलकर साहित्यिक भाषा के क्षेत्र में अधिकार जमा रही थी।

वैदिक युग के मूल स्रोत 'सामवेद' से प्रेरित विद्‌यापति की गीतिकाव्य-धारा की परंपरा, माधुर्य, योग्यता तथा तारतम्य आदि संगीत के सभी गुणों से संपन्न है, जो बाद में लौकिक

संस्कृत काव्यों में विकसित होती हुई बारहवीं शताब्दी में जयदेव के 'गीतगोविंद' में मधुर राग-रागिनियों के स्वर में प्रवहमान दिखाई पड़ती है। इसी से हिंदी के गीतिकाव्य को प्रेरणा मिली और विद्यापति ने प्राचीन परंपरा को हिंदी की लोकभाषा मैथिली में, मधुरगीतों की रचना कर, स्थायित्व प्रदान किया। विद्यापति के इन गीतों में मादकता, शृंगारिकता, विलासिता एवं भावों की स्वतंत्रता अत्यधिक है। इनमें मिथिला के दांपत्य-प्रेमपूर्ण नरनारियों का मधुरकंठ गूँजता सुनाई पड़ता है। इनकी लोकप्रियता इतनी बढ़ती गई कि गाँव-नगर सभी जगह नर-नारी इन्हें गाने लगे और यहाँ तक कि बंगाल तक उनकी धूम पहुँच गई। कुछ पदों की तो वाङ्ला में रूपांतरित कर, विद्यापति को बंगाल का कवि माना जाने लगा। परंतु कालांतर में भाषाविज्ञों ने अनुसंधान करके विद्यापति को मिथिला का ही कवि सिद्ध कर दिया। यह बात सामने आई कि मिथिला की प्रवृत्ति बाङ्ला की अपेक्षा हिंदी के कहीं अधिक निकट है। बंगाल के लोगों को विद्यापति के गीतों ने इतना अधिक प्रभावित किया था कि उनके प्रशंसकों ने उन्हें 'अभिनव जयदेव' 'कविशेखर' 'कविकंठहार' 'कविरंजन' आदि अनेक उपाधियों से विभूषित कर दिया।

ज्ञातव्य है कि विद्यापति की गीति-परंपरा आज तक हिंदी साहित्य की समृद्धि के लिए प्रेरक सिद्ध हो रही है और परवर्ती हिंदी साहित्यकारों ने उनसे प्रेरणा लेकर जैसे उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की है। यदि गंभीरता से देखें तो कबीर ने उसमें **आध्यात्मिकता** का पुट दिया, सूर ने **माधुर्य, भावों की तरलता, अनुभूति की तीव्रता, वात्सल्य की सरसता,** एवं **पुनीत प्रेम** की गहनता का समावेश किया, तो तुलसी ने **सेव्य-सेवक भाव**

के साथ प्रभु-भक्ति एवं भक्त के दैन्य से ओत-प्रोत कर दिया। दूसरी ओर मीरा ने नारी-सुलभ सुकुमारता, हृदय की कोमलता, वियोग विह्वलता तथा विरहिणी की मार्मिक अनुभूति से अपनी गीतियों को ओत प्रोत कर दिया। भारतेंदु युग में विद्यापति का लौकिक प्रेम और आध्यात्मिकता देशप्रेम के स्वर में मुखरित हुआ।

द्विवेदी युग में 'प्रगीत' के रूप में एक भिन्न रचना-रूप में प्रकट यह परंपरा बनी रही, तो छायावादी युग में प्रसाद, पन्त निराला, महादेवी आदि ने एक नई प्रगीत काव्यधारा से परंपरा को अपनाया। इन तथ्यों से स्वतः स्पष्ट होता है कि विद्यापति संस्कृत के 'जयदेव' की 'गीतगोविंद' की परंपरा से संबद्ध तो हैं, किन्तु हिंदी गीतिकाव्य के प्रर्क्तक और जन्मदाता हैं। अतः हिन्दी के आदिकालीन प्रेरक, प्रवर्त्तक कवि के रूप में उन्हें यथेष्ट मान्यता मिलनी चाहिए इस हेतु हिंदी साहित्यकारों, विद्वानों का उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करना अपेक्षित है। इसी मंतव्य से विद्यापति पर यह छोटी पोथी मेरा अल्प प्रयास है।

'पदावली' विद्यापति की अद्भुत काव्य प्रतिभा का निदर्शन है। विद्यापति के पदों को - प्रणय-लीला संबंधी श्रृंगार के पद, प्रार्थना संबंधी भक्ति के पद, और तत्कालीन परिस्थितियों का चित्र अंकित करने वाले पद - इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। विद्यापति के वयः संधिवर्णन, नखशिखवर्णन, सद्यः स्नातावर्णन और प्रणयकेलिवर्णन में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए राधा और कृष्ण के माध्यम से उनकी प्रणय लीलाओं का अत्यंत प्रभावोत्पक वर्णन किया गया है। उनके पदों में कुछ ऐसे गीत भी हैं, जिनमें तत्कालीन समाज की आस्तिकता, धार्मिक

भावना भक्ति आदि का भी वर्णन मिलता है। स्तुतिपरक गीतों में कहीं शिव की, कहीं विष्णु की, कहीं कृष्ण की कहीं दुर्गा की कहीं सरस्वती की, कहीं जानकी की तो कहीं गंगा की प्रार्थना की गई है। विद्यापति को शैव माना जाता है और शैव होते हुए भी वे विभिन्न देवी–दवताओं के उपासक हैं। उन्होंनें विभिन्न देवी–देवताओं के लिए प्रार्थनाएँ लिखीं जो मिथिली में आज भी घर–घर गाई जाती हैं। विद्यापति ने शंकर की प्रार्थना करते हुए उनके स्वरूप की जो अद्‌भुत छवि प्रस्तुत की है वह अत्यंत आकर्षक और प्रभावोत्पादक है।

एक स्तुति में कवि ने विष्णु–शिव दोनों का एक साथ वर्णन किया है, जिसमें दोनों में एकात्म भाव की स्थापना की गई है। दोनों को एक सत्ता के दो रूप मानकर प्रार्थना की गई है।

आदिकालीन वीरगाथामयी प्रवृत्ति के अनुसार विद्यापति ने लोकभाषा की सरल पदावली में ही युद्धक्षेत्र का बड़ा ही जीता – जागता चित्र अंकित किया है। इस चित्र में उनके आश्रयदाता राजा शिवसिंह की वीरता, शुद्‌धता और पराक्रम आदि का चित्रण है। जैसे, निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होता है।

दूर दुग्गम रमसि भंजेओं गाढ़ गढ़ गूड़िय गंजेओ।
पातसाहि ससीम सीमा समर दरस ओ रे॥
डोल तरल निसान सद्दहि, भेरिकोहल संख नद्दहि।
तीनि भुवन निकेत केतिक सान भरिओं रे॥
.... पार परिपंथ गंजिअ, भूमि मंडल, मुंड मंहिय।
चारु चन्द कलेव चित्ति सुकेत की तुलिओ है रे॥

राम रूप स्वधम्म सिक्खिअ दान दप्प दधीचि राक्खिअ।
सुकवि नव जयदेव भनिओ रे॥

विद्यापति ने अपने पदों में प्रकृति के स्वतंत्र एवं आलंबन रूप का चित्रण किया है। इसलिए उनका प्रकृति चित्रण आलंबन और उद्दीपन दोनों रूपों में मिलता है। कवि ने ऋतुराज के जन्म से लेकर उसकी राज्य प्राप्ति तक का उल्लेख बड़ी सजीवता से किया है।

''माघ मास सिरि पंचमी गंजाइलि नवम मास पंचम हरुआई॥
सुभ रवन बेरा सुकुल पक्ख हे दिनकर उदित समाई।
सोरह संपुन बतिस लखन सहज जनमलेल रितुराई।''

विद्यापति की भाषा में कोमलकान्त पदावली का समन्वय है, तत्कालीन लोकभाषा माधुर्य है। उनकी भाषा 'देसिल वअना' होकर भी नागरो के मन को मुग्ध करने वाली है, तथा मधुर राग एवं संगीत के कोमल स्वरों से विभूषित है।

विद्यापति के विषय में विद्वानों में यह विवाद रहा है कि वे भक्त-कवियों की कोटि में आते हैं अथवा शृंगारी कवियों की कोटि में? विद्यापति की महेश-वानी और शिव की नचारी, गंगा, देवी की स्तुतियाँ आदि के आधार पर इन्हें कई लोग भक्त कवि मानते है। क्या पदावली में राधाकृष्ण के संयोग वियोग के चित्रण के आधार पर उन्हें वैष्णवभक्त या कृष्णभक्त कहा जा सकता है? किन्तु विद्वानों विचार पूर्वक यह मंतव्य दिया कि विद्यापति न तो वैष्णव कवि हैं और न राधाकृष्ण के भक्त, अपितु शैव हैं। मिथिला में प्रचलित 'उगना' की किंवदन्ती के अनुसार स्वयं महादेव ने विद्यापति का दास्य स्वीकार था। अत एव वे शैव थे,

कृष्ण भक्त नहीं। राधाकृष्ण संबंधी पदों में तो कहीं भी भक्ति भावना दिखाई नहीं देती, शृंगार दिखाई पड़ता है, वासना का प्रखर रंग है, जब कि शिवस्तुतियों में उनकी भक्ति भावना का स्रोत उमड़ पड़ता है।

अंतत: यह कहा जा सकता है कि विद्यापति के राधाकृष्ण संबंधी पदों में वासनामय प्रेम की प्रधानता है, कहीं भी जीवात्मा और परमात्मा के मिलन एवं विरह की ओर ध्यान नही जाता और न भक्ति भावना का लेशमात्र भी प्रस्फुटन है। इन पदों में तो मानव की मूलभावना, कामभावना का सचित्र अंकन है तथा इनका संबंध लौकिक जगत् से है, पारलौकिक से नही। केवल जीवन के भौतिक आनंद का उज्ज्वल रूप है अत: विद्यापति को शृंगारी कवि कहना अनुचित नहीं।

मैथिली-गीतों की परंपरा केवल मिथिला तक ही सीमित नहीं रही अपितु बंगाल, ओडीसा असम आदि प्रांतों में भी इनका भरपूर प्रचार हुआ। चौंदहवीं शताब्दी में जब मिथिला विद्या का केंद्र था तो पूर्वी प्रान्तों से विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए यहाँ आते थे और विद्यापति के गीतों को अपने साथ ले जाया करते थे, और इस प्रकार उन समीपवर्ती प्रांतों में भी इनका प्रचार होता रहा। बंगाल के प्रसिद्ध कवि चंडीदास ने कविकोकिल की शैंली में 'कृष्ण-कीर्तन काव्य' की रचना की। चैतन्यदेव ने भी विद्यापति के पदों का प्रचार उत्तर-पूर्वी भारत में किया और कतिपय अनुयायी, जो ब्रजप्रदेश में रहने लगे थे उनके माध्यम से विद्यापति की गीतपरंपरा व्रजभाषा में पहुँचकर 'ब्रजवुलि' में अवतरित हुई।

उपर्युक्त तथ्यों से सह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल/वीरगाथाकाल में विद्यापति ने उत्कृष्ट

काव्य की रचना की, गेय गीतियों का प्रणयन किया जिसके कारण वे 'कविकोकिल' के रूप में प्रतिष्ठित हुए। परवर्ती भक्तकवियों और रीतिकवियों तथा आज के भी गीतकारों को विद्यापति ने पूर्णरूप से प्रभावित किया है, इसमें कोई संदेह नहीं।

कविकोकिल विद्यापति के संबंध में यह पोथी लिखने का विचार जब मेरे मन-मस्तिष्क मे आया तो विद्‌यापति से संबंधित मिथिला और मैथिली भाषा का भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर देना मैंने उपयुक्त समझा, क्योंकि इन दोनों के परिचय के बिना संभवतः विद्‌यापति का परिचय अधूरा रह जाता। अत एव इस पोथी को तीन परिच्छेदों में बाँटा गया है। **प्रथम परिच्छेद** में मिथिला के पौराणिक ऐतिहासिक, भौगोलिक परिचय तथा राजनैतिक वातावरण का उल्लेख है। **द्वितीय परिच्छेद** में मैथिली भाषा का भाषावैज्ञानिक परिचय, उसकी लिपि, साहित्य तथा अन्य भाषाओं से उसके संबंध का दिग्दर्शन मात्र है। **तृतीय परिच्छेद** में कविकोकिल के जीवन, मृत्यु तथा अन्य संबंधित घटनाओं के साथ-साथ उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार तीन परिच्छेदों में निबद्‌ध प्रस्तुत पुस्तक को '**मिथिला-मैथिली-विद्‌यापति**' की परिचायिका के रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। अंत में परिशिष्ट में मैथिली भाषा की 'तिरहुता' लिपि की बानगी और लेखनविधि का अत्यंत संक्षिप्त परिचय पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत है। मैथिली भाषा में आज हजारों की संख्या में लिखने वाले बड़े उत्साह और लगन से सभी विधाओं में लिखने के लिए अग्रसर हैं, उन सभी की नामावली तो नहीं दी जा सकती किंतु 'साहित्य अकादमी' पुरस्कार प्राप्त मैथिली लेखकों, कवियों की सूची भी

परिशिष्ट में दी गई है। मैथिली भाषा ने हिंदी साहित्य की समृद्धि की है और स्वयं एक सशक्त भाषा के रूप में आज भाषा-परिवार में जुड़ी हुई है। विद्यापति को हिंदी के पुरोधा के रूप में प्रतिष्ठित करना हिंदी साहित्य के लिए गौरव की बात है।

इस पुस्तक के अंत में विद्यापति के कतिपय पद पाठकों के अवलोकन और काव्यविनोद के लिए उद्धृत किए गए है। आशा है इससे पुस्तक की रोचकता बढ़ सकेगी।

यह मेरे लिए अत्यंत सौभाग्य की बात है कि मैथिली के मूर्द्धन्य विद्वान मनीषी लेखक और कवि प्रोफेसर भीमनाथ झा जी ने साधारण पुस्तक का प्राक्कथन लिखकर मुझे अनायास ही गौरन्वान्वित और कृतार्थ करने की कृपा की है। मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ।

पुस्तक लेखन में प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से प्रेरणा और सहयोग प्रदान करने के लिए समस्त शुभैषियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

पुस्तक के लेखन और मुद्रण से लेकर प्रकाशन तक की विषम स्थिति से जूझते रहने के कारण सावधान रहने पर भी अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं। विद्वज्जन और सुधीपाठक मुझे यथावसर उनसे अवगत कराकर मेरे लिए मार्गदर्शन करने की कृपा करेंगे। **'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः'**।

केंद्रीय हिंदी निदेशलय ने पुस्तक प्रकाशन हेतु आर्थिक अनुदान उपलब्ध कराकर मेरा सहयोग किया है तदर्थ मैं निदेशालय के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अंत में अमर ग्रंथ पब्लिकेशन्स को साधुवाद देता हूँ जिन्होंने अपेक्षित समय में पुस्तक को आकर्षक और सुसज्जित रूप में मुद्रित/प्रकाशित करने का गुरुतर भार वहन किया है।

सौभाग्य दर्पण, हरिनगर,
नई दिल्ली–110064
गुरुपूर्णिमा,
दि. 31.7.2015

विनीत
(डॉ.) नोदनाथ मिश्र

अनुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद

मिथिला का परिचय

प्राचीन इतिहास

मथ्यन्ते रिपवः यत्र सा मिथिला

(बृहद् विष्णुपुराण-मिथिलाखंड)

(जहाँ काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि शत्रुओं का दमन किया जाय वही मिथिला के नाम से प्रसिद्ध हुई। एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार वैदिक एवं उपनिषद् विद्या के ज्ञानबल पर संसार का अज्ञान नष्ट कर जहाँ ज्ञान की विजय होती रही है वही 'मिथिला' के नाम से प्रशस्त है।

पौराणिक उल्लेख है कि अयोध्यानरेश इक्ष्वाकु के छोटे पुत्र राजकुमार निमि अपने बड़े भाई काकुत्स्थ के राज्याभिषेक के समय राजधानी के समस्त राजपुरुषों और महाराजाओं का विशेष झुकाव काकुत्स्थ की ओर देख व्यथित हो उठे। वे अपने तपोबल से पराक्रमी राजा बनने की कामना से अवध छोड़कर तपःपूत तीरभुक्ति (तिरहुत) प्रदेश के प्रसिद्ध तपस्वी महर्षि गौतम के आश्रम में पहुँच गए। उस समय लंकापति निशाचर रावण ने बलपूर्वक तिरहुत प्रांत पर अधिकार कर लिया था और वह मुनियों के यज्ञ में अनेक प्रकार के उत्पात मचाया करता था। उसी उत्पातके समय अचानक राजकुमार निमि को उपस्थित देख

मुनिगण प्रसन्न हो उठे। महामुनि जमदग्नि ने खूब धूमधाम से दीक्षा-समारोह की तैयारी की और राजकुमार निमि को सविधि दीक्षा दी।

महर्षि गौतम की उच्चतम शिक्षा-दीक्षा के प्रभाव से थोड़े ही दिनों में सूर्यवंशी राजकुमार निमि का तपोबल चमकने लगा और वे राजर्षि के नाम से प्रसिद्ध हो गए। उस समय तक तिरहुत में निशाचर रावण का उत्पात चरम सीमा पर पहुँच गया था। कर-वसूली में वह रक्तपात करके मुनियों के रक्त से एक विनाशकारी घड़ा भर रहा था।

कहते हैं कि इसी रक्तपूरित घड़े के कुप्रभाव से, जब लंका में घोर अकाल पड़ा और अनेक प्रकार के झंझा-तूफानों से त्राहि-त्राहि मच गई तो रावण ने घड़े को तिरहुत प्रांत के सर्वाधिक उपजाऊ भूमि 'सीतामढ़ी' में गाड़ दिया, जिससे पूरा तिरहुत अकाल की चपेट में आ गया। अकाल से छुटकारा पाने के लिए मिथिलेश महाराज सीरध्वज जनक को हल चलाना पड़ा। हल की फाल से खून का घड़ा फूट गया और उससे जगज्जननी 'सीता' शिशु रूप में अवतरित हुई।

राजर्षि निमि से रावण का यह अत्याचार सहा न गया। एक दिन अकस्मात् क्रोधावेश में धनुष-वाण ले वे, गुरुवर महर्षि गौतम के सम्मुख आकर राक्षस-वध की प्रतिज्ञा करने लगे। महर्षि गौतम उन्हें क्रोधावेश में देख, घबड़ाकर बोले 'प्रिय वत्स, अभी तुम गुरुकुल में व्रती हो; इस अवस्था में तुम्हारा यह आवेश तपस्वी जैसा नहीं है।"

इसी बीच कामधेनु की प्रेरणा से क्रांतिकारी महर्षि जमदग्नि

वहाँ आ गए और उन्होंने महर्षि गौतम को तिरहुत का नरेश घोषित कर उनका राजतिलक कर दिया। निमि तिरहुत के प्रथम शासक हुए। पूरा तिरहुत प्रान्त राजर्षि निमि के अधिकार में आ गया। उनके तेज और बल से 'तपोवन' गूँजने लगा। लंकापति रावण सहित भयभीत निशाचर थर्राने लगे। सब अपने प्राण बचाकर भाग लिए। यहाँ तक कि तिरहुत का अहर्निश यज्ञानुष्ठान देख इन्द्र भी त्रस्त हो उठे। अस्तु, तिरहुत प्रान्त में पुनः सुख-शान्ति का वातावरण हो गया।

एक बार ऐसा हुआ कि महाराज राजर्षि निमि ने अपने तिरहुत राज्य में विश्व विजय की कामना से एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया। महर्षि गौतम ने महाराज निमि को, इस यज्ञ में अपने सूर्यवंशी कुलगुरु वशिष्ठ को ऋत्विक् बनाने की सलाह दी। महाराज ने वैसा ही किया; वशिष्ठ को ऋत्विक् का दायित्व सौंपा गया।

उधर देवराज इन्द्र इस विशाल यज्ञ के नाम से भयभीत हो गए कि कहीं इसी यज्ञ के बहाने महाराज निमि विश्वविजयी बन, इन्द्रलोक पर भी अपना आधिपत्य न जमा लें? "अवश्य ही महाराज निमि मुझे रावण का मित्र समझ बदला लेने के लिए महायज्ञ के नाम पर स्वांग कर रहे हैं"– यह सोच इन्द्र ने भी स्वर्ग में महाराज निमि जैसा ही महायज्ञ करने का संकल्प ले लिया था।

महाराज निमि के विशाल यज्ञ की अवधि में ही स्वर्ग में संकल्पित यज्ञ के लिए इन्द्र ने वशिष्ठ को, भरपूर दक्षिणा देने का प्रलोभन देकर, ऋत्विक् के रूप में वरण कर लिया।

तिरहुत नरेश निमि को वशिष्ठ की यह धनलिप्सा उचित नहीं लगी। वे नियत समय तक वशिष्ठ की प्रतीक्षा करते रहे।

अन्त में उन्होंने तिरहुत के राजगुरु महर्षि गौतम को ऋत्विक् बनाकर यज्ञ का शुभारंभ कर दिया। उधर, देवराज सजग थे। महाराज निमि के विरुद्ध झूठी अपवादपूर्ण बातों से वशिष्ठ को उकसाकर यज्ञ की समाप्ति के समय महाराज निमि के पास भेज दिया।

वहाँ महाराज निमि के यज्ञ में सूर्यकुल-गुरु के आसन पर गौतम ऋषि को देख वशिष्ठ का क्रोध भड़क उठा। उन्होंने महाराज निमि को मरने का शाप दे दिया।[1] राजर्षि निमि ने भी आवेश में विवेकहीन गुरु वशिष्ठ को शाप देकर कहा "अर्थलिप्सा के कारण वचनविमुख हुए आपका यह शरीर प्राणरहित हो जाय।"

इस प्रकार शाप से आहत हो दोनों महर्षियों का पार्थिव शरीर निष्प्राण हो गया।

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने तो मित्रावरुण के संभोग द्वारा अप्सरा उर्वशी के गर्भ से पुनः जन्म ले लिया। किन्तु तिरहुत नरेश निमि के बारे में तिरहुत के सभी मुनिगण यज्ञ में उपस्थित समस्त देवताओं से प्रार्थना करने लगे, "हे देवगण, यदि इस महायज्ञ से आप लोग संतुष्ट हैं तो वरदान दीजिए कि तिरहुत के एकमात्र प्रथम नरेश निमि जीवित हो जाएँ।"

देवताओं के 'तथास्तु' कहने पर राजर्षि निमि जीवित हो उठे और आश्चर्यचकित हो बोले, "हे देवताओ, आत्मज्ञानी ऋषि-मुनि शरीरत्याग के उपरांत परमेश्वर के चरणों में लीन हो

---

1. वशिष्ठ ने निमि को शाप देते हुए कहा– **"सद्यो विदेहोभव"** अर्थात् इसी समय देहरहित (निष्प्राण) हो जाओ।

जाते हैं– किसी प्रलोभन के कारण पुनः जन्म लेना नहीं चाहते। मैं भी पुनः शरीरधारी होना नहीं चाहता। आप कृपा कर मुझ पर दया कीजिए। दुःख, शोक, भय आदि से व्याप्त अनित्य शरीर को पुनः धारण करने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है।"

राजर्षि निमि का विवेकपूर्ण वचन सुनकर देवगण प्रफुल्लित हो उठे। उन्होंने राजर्षि को आश्वस्त कर वरदान दिया, "मुनिवर, आप इस पार्थिव शरीर से अलग हो अनन्तकाल तक प्राणियों के निमेष (नेत्रपलक) पर निवास करेंगे और आपके पार्थिव शरीर के मंथन से जो बालक उत्पन्न होगा वही आपके तिरहुत प्रान्त का राजा बनेगा– आपके दोनों मनोरथ पूर्ण होंगे।"

देवताओं का यह कहना था कि राजर्षि निमि का शरीर पुनः निष्प्राण हो गया और उस शरीर का शास्त्रोक्त रीति से, मंथन किया गया। शरीर मंथन से एक दिव्य बालक अवतरित हुआ।[1] बालक स्वयंजात था, अतः वह 'जनक' था। विगत देह (मथित शरीर से) उत्पन्न हुआ इसलिए 'विदेह' और मंथन से पैदा हुआ तो, 'मिथिल' नाम से संसार में प्रख्यात हुआ।

जातक मिथिल के पालन–पोषण, शिक्षा–दीक्षा आदि का पूरा भार न्याय–वैशेषिक के प्रवर्तक महर्षि गौतम को सौंपा गया। वरद पुत्र वह बालक विदेह कुछ ही समय में आकाश में पूर्णचन्द्र

---

1. "पुनर्निमेः शरीरस्य मंथनं मुनिभिः कृतम्।
मिथिलस्तत्र समुत्पन्नो मिथिला तेन साऽभवत्।।
तदाप्रभृति तद्वंशैः राजधानी निरूपिता।।"
मुनियों ने निमि के शरीर का मंथन किया और उससे 'मिथिल' उत्पन्न हुआ, जिसने मिथिला राज्य की स्थापना की। तब से उस वंश के राजाओं ने मिथिला को अपनी राजधानी बनाया।

के समान तिरहुत की धरती पर तेज से चमक उठा। मुनियों ने बड़े उत्साह से उसका राज्याभिषेक किया।

राज्याभिषेक के बाद तिरहुत नरेश महाराज 'मिथिल' ने अपने नाम पर 'मिथिला' का राज्य बसाया और उसी दिन से मिथिल 'मिथिलेश' की विरुदावली से विभूषित हो गए। इस प्रकार मिथिला के राजवंश में जनक, विदेह और मिथिलेश इन तीनों उपाधियों के जन्मदाता महाराज मिथिल प्रसिद्ध हो गए। इन तीनों उपाधियों से मिथिला के शासकों को परवर्ती काल में भी विभूषित किया जाता रहा।

कहते हैं कि कृतयुग में इन्द्र की तपस्याभूमि मिथिला थी और यहीं शिवजी को अपने तप से प्रसन्न करके इन्द्र ने शिव से 'धनुषरत्न' प्राप्त किया था। इसी कारण मिथिला को 'शाम्भवी' नाम से भी ख्याति मिली। 'शाम्भवी' में प्रायः सोने की खानें मिला करती थीं। अतः इसका नाम सुवर्णकानन भी था।

इसी 'सुवर्णकानन' को अपनी घोर तपस्या से तपःपूत कर महाराज निमि ने इसका नाम 'तपोवन' रखा। आगे चलकर 'तपोवन' 'तीरभुक्ति' में निमि ने विश्व-विजयी विशाल यज्ञ का आयोजन किया था, जिसमें वशिष्ठ मुनि के शाप से मृत निमि योगबल के प्रभाव से दिव्यदेहधारी 'मिथि के रूप में प्रादुर्भूत हुए थे।

एक पौराणिक आख्यान यह भी है कि 'मिथि' के वंशज महाराज ह्रस्वरोमात्मज, महाराज सीरध्वज (जनक) के शासनकाल में एक बार अनावृष्टि के कारण घोर अकाल पड़ा, जिससे मुक्ति पाने के लिए महाराज सीरध्वज जनक ने विशाल यज्ञ का

आयोजन किया। उन्हें सुवर्ण के हल से पृथ्वी को जोतना पड़ा। हल जोतते समय तेज फाल के लगने से पृथ्वी में गड़ा एक घड़ा निकला। उसी से आदिशक्ति जानकी 'सीता' का जन्म हुआ।

मिथिला के अनेक नाम

बृहद् विष्णुपुराण में मिथिला के अनेक नामों का उल्लेख मिलता है। जैसे– विदेह, तीरभुक्ति, तपोभूमि, शांभवी, सुवर्णकानन, मनतिलि, वैजयन्ती, आदि। इनमें मिथिला, विदेह और तीरभुक्ति (तिरहुत) अधिक प्रसिद्ध हैं।

विदेह– मिथिला के आदिशासक विदेह के नाम से मिथिला का विदेह नाम पड़ा। सरस्वती-तट से आर्यों का एक दल गंगा के उत्तर सदानीरा (गण्डकी) नदी के तट पर आर्य संस्कृति के प्रसार के लिए विदेह माथव के नेतृत्व में आया था। उस समय वहाँ घोर जंगल था। विदेह माथव ने अपने आचार्य गौतम राहुगण द्वारा सर्वप्रथम अग्नि प्रज्वलित करवाकर वन्य भूमि का संस्कार किया और क्रमशः जनसमूह को यहाँ बसाकर अपने राज्य की स्थापना की। बाद में उनके वंशजों ने अनेक पीढ़ी तक यहाँ के भूभाग पर शासन किया। इसी वंश में विदेह जनक हुए जिनकी पुत्री सीता थी। उनकी राजधानी जनकपुर (आज नेपाल में) अभी भी प्रसिद्ध तीर्थ है। उस समय राजा के गोत्र नाम पर जनपद के नाम रखने की परंपरा थी। अत एव यह भूभाग 'विदेह' के नाम से जाना जाता था।

तिरहुत मिथिला की तुलना में 'तीरभुक्ति' (तिरहुत) यह नाम उत्तरकालीन और नया है। मिथिला की विशिष्टता बताने के क्रम में निम्नलिखित श्लोक उपलब्ध होता है, जिसमें तीरभुक्ति का उल्लेख है–

जाता सा यत्र सीता सरिदमलजा वाग्वती यत्र पुण्या,
यत्रास्ते सन्निधाने सुरनगरनदी भैरवो यत्र लिंगम्।
मीमांसा-न्याय-वेदाध्ययनपटुतरैः पण्डितैर्मण्डिता या,
भूदेवो यत्र भूपो यजनवसुमती सास्ति मे तीरभुक्तिः।।

(जहाँ पुण्यसलिला वाग्वती नदी तथा सुरनगर नदी (गंगा) भैरव लिंग (शिवाराधन) हैं, मीमांसा-न्याय-वेदादि शास्त्रों के अध्ययन में निरत विद्वन्मंडली है, जहाँ 'भूदेव' जैसे यशस्वी शासक हैं और जहाँ नृपजन यज्ञरत रहते हैं, वहीं तीरभुक्ति की धरती है।)

'तीरभुक्ति' शब्द 'तीर' और 'भुक्ति' शब्द के मेल से बना है, जिसका अर्थ होता है तट पर बसा भूभाग। कोशी, गंडकी और गंगा क्रमशः इसकी पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी सीमा है। इसके साथ ही मिथिला में अनेक छोटी-छोटी नदियों का जाल बिछा हुआ है—अतएव नदियों के तट पर बसे होने से 'तीरभुक्ति' नाम की सार्थकता स्वयं सिद्ध है। गुप्तकाल में भी इस भूभाग को तिरहुत कहा जाता था!

'तिरहुत' नामकरण के संबंध में एक अन्य धारणा यह भी है कि ऋक्-यजु और साम इन तीन वेदों की आहुति देने वाले ब्राह्मणों की निवासभूमि मिथिला है। इसलिए इसका नाम तीरभुक्ति (तिरहुत) पड़ा। वस्तुतः प्रसिद्ध विदेह को सबसे पहले गुप्त शासकों ने स्वाधीन किया था और उन्होंने इसका 'विदेह' नाम हटाकर तीरभुक्ति नाम दिया। मुस्लिम और ब्रिटिश शासकों ने भी अपने प्रशासन में इसका तिरहुत नाम ही चलाया।

मिथिला

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है मिथिल के नाम से मिथिला नामक राजधानी की स्थापना हुई। 'मिथिला' शब्द की व्युत्पत्ति में प्रचलित उक्ति है कि 'मथ्यन्ते रिपवः यत्र सा मिथिला' (अर्थात् जिस देश में शत्रुओं का दमन किया जाय)। इतिहास साक्षी है कि मिथिला अपने शौर्य, पराक्रम और आध्यात्मिक ओज से संपूर्ण विश्व को चमत्कृत करती रही है।

रामायण में सीरध्वज जनक का सांकाश्य पर विजय और महाभारत में तत्कालीन मिथिलेश का महाभारत युद्ध में योद्धा के रूप में सम्मिलित होना, ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में मिथिला की विशिष्टता, शास्त्रार्थ में यहाँ के विद्वानों द्वारा सर्वत्र विजय पाना आदि तथ्य मिथिला को सर्वोपरि होना सिद्ध करते हैं।

मैथिली के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. सुभद्र झा की मान्यता है कि मिथिला संस्कृत के 'मिथ' शब्द से निर्मित है, जिसका अर्थ होता है 'संयुक्त'। अर्थात् प्राचीन कालिक विदेह, वैशाली और अंग प्रदेशों का संयुक्त नाम मिथिला है।[1]

मिथिला का नाम 'विदेह' बहुत प्राचीन है और 'मिथिला' तथा 'तिरहुत' नाम अब अधिक प्रचलित है। यद्यपि बुद्ध युग के समाप्त होने पर प्रशासनिक व्यवस्था के लिए 'तिरहुत' नाम प्रचलित किया गया था! किन्तु हिंदू संस्कृति की अनोखी भूमि होने के कारण 'मिथिला' नाम का प्रचलन आदिकाल से ही चला आ रहा है।

---

1. Mithila may mean attached together in as much as Mithila is the name of the part of that country, which is made up of not less then three ancient principalities namely Vaishali, Videha and Ang.

भौगोलिक एवं प्राकृतिक विस्तार

मिथिला की पारंपरिक भौगोलिक सीमा के संबंध में वृहद् विष्णु पुराण में पाराशर मुनि और मैत्रेय के संवाद-प्रसंग में मिथिला माहात्म्य में उल्लेख हुआ है कि–

गंगाहिमवतोर्मध्ये नदी पंचदशान्तरे।
तैरभुक्तिरिति ख्यातो देशः परमपावनः॥
कौशिकीन्तु समारभ्य गंडकीमधिगम्य वै।
योजनानि चतुर्विंशत् व्यायामः परिकीर्तितः॥
गंगाप्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम्।
विस्तारः षोडशः प्रोक्तो देशस्य कुलनन्दन॥

(पूर्व में कौशिकी (कोसी नदी), पश्चिम में शालग्रामी या नारायणी (गण्डकी) दक्षिण में गंगा और उत्तर में हिमालय तक पवित्र मिथिला क्षेत्र का विस्तार है)।

यह क्षेत्र पूर्व से पश्चिम तक लगभग २९० कि.मी. लंबा तथा उत्तर से दक्षिण तक लगभग १९३ कि.मी. चौड़ा है। अर्थात् मिथिला के विस्तृत क्षेत्र में नेपाल की तराई क्षेत्र का दक्षिणी भाग वर्तमान मुजफ्फरपुर, दरभंगा, चंपारन, (अविभक्त) मुंगेर, भागलपुर और पूर्णिमा जिलों की गणना मानी गई। इसके अनुसार मिथिला का क्षेत्रफल ५५९७० वर्ग किलोमीटर होता है।

आधुनिक मैथिली साहित्य के जनक कवीश्वर चन्दा झा ने भी मिथिला के क्षेत्र-विस्तार के संबंध में एक मैथिली छंद में उपर्युक्त सीमा का समर्थन इस प्रकार किया है–

गंगा बहथि जनिक दक्षिण दिशि पूर्व कौशिकी धारा,
पश्चिम बहथि गण्डकी उत्तर हिमवत बल-विस्तारा।

कमला त्रियुगा अमृता धेमुड़ा वागमती कृतसारा,
मध्य बहथि लक्ष्मणा प्रभृति से मिथिला विद्यागारा।।

(महामहोपाध्याय महेश ठाकुर के समय (१५५७ ई.) तक प्रायः मिथिला की यही सीमा मानी जाती थी। सम्राट अकबर द्वारा दिए गए मिथिला प्रशासन के दानपत्र में लिखा था, "अज कोष ता गोस व अज गंग ता संग" अर्थात् कोष (कोस) कोशी से 'गोस' संभवतः गंडक तक तथा गंगा से पाथर (हिमालय) तक का क्षेत्र।"

मिथिला की परंपरागत सीमा में कोसी की धारा में यदा-कदा अस्थिरता होने या अन्यान्य कारणों से भी परिवर्तन होता रहा होगा और तदनुसार मिथिला के क्षेत्र में बदलाव आया होगा।

भाषाई विस्तार के कारण आधुनिक मिथिला का परिसीमन बिहार, झारखंड और पश्चिम बंगाल के भूभाग तथा दक्षिणपूर्व नेपाल तक हो गया है। तदनुसार मिथिला प्रदेश के अंतर्गत बिहार के मुजफ्फरपुर, सीतामढ़ी, वैशाली, दरभंगा, मधुबनी, समस्तीपुर, सहरसा, सुपौल, अररिया, किशनगंज, उत्तर मुंगेर, और भागलपुर तथा पूर्णिया जिला एवं झारखंड के देवघर, दुमका, गोड्डा, पाकुड़, साहेबगंज, जमताड़ा जिले, नेपाल के जनकपुर क्षेत्र में सरलाही, महोत्तरी और धनुषा जिले, कोसी क्षेत्र में सुनसरी जिला तथा सागरमाथा क्षेत्र के सिराहा और सपतरी जिले आते हैं।

प्राचीनकाल से ही मिथिला की जमीन गहरी, दलदली और जंगलों से घिरी घनी उपज वाली रही है। इसमें नदियों की बहुलता के कारण प्रायः पूरे वर्ष अस्थायी तौर पर जलभराव रहता

है। इस क्षेत्र का अधिकांश भूभाग शीतऋतु में भी शुष्क नहीं हो पाता और कुछ स्थानों में तो वर्ष में केवल तीन–चार महीने ही यातायात की सुविधा रहती है। मिथिला भूमि की इसी प्रकृति के कारण सन् १९३४ ई. में आया भूकंप सर्वाधिक विनाशकारी था। अब संचार साधनों के विस्तार तथा कृषि की उन्नति से घने जंगल, दलदली जमीन और जलीय प्रदेशों की स्थिति में कमी आई है। आज तो शायद ही कोई बड़ा और घना वन्य प्रदेश बचा हो जहाँ अधिकांश जंगली पशुओं को शरण मिल सके।

इधर १९३४ ई. के विनाशकारी भूकंप के बाद कभी भयंकर बाढ़ और कभी दुखद अनावृष्टि के कारण यहाँ की भौगोलिक स्थिति दयनीय होती रही है, जिसका प्रभाव यहाँ के निवासियों पर पड़ता रहता है। फलतः जीवनयापन की कठिन स्थितियों का सामना करने को वे विवश होते रहे हैं। इन प्राकृतिक प्रकोपों ने मिथिलावासियों को मंद बनाने का प्रयास किया है तथापि वे अपने बौद्धिक क्रियाकलापों और चमत्कारों से मिथिला को श्रेष्ठ सिद्ध करते रहे हैं।

मिथिला को नदीदेवताओं ने अपनी विद्यमानता से महिमामंडित किया है। इन नदियों में गंगा, कौशिकी (कोसी) गण्डकी, दुग्धवती (दूधमती) कमला, त्रियुगा (तिलयुगा) लक्ष्मणा (लखनदेई) यमुना (यमुनी) विरजा (खिरोई) धूमा, अधोवारा (अधवारा) मण्डना (मंड़हा) जीवाइका (जीवछ) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन नदीदेवताओं ने चारों तरफ से मिथिला को घेरकर उसकी उर्वराशक्ति को बढ़ाया ही है।

इसके अतिरिक्त मिथिला की पवित्रता बढ़ाने में यहाँ के अनेक तीर्थों और आश्रमों ने भी सहयोग दिया है। इनमें याज्ञवल्क्य,

कौशिक, विभाण्डक, गौतम, वाल्मीकि, कपिलेश्वर आदि के आश्रम तथा हरिहर, कल्याणेश्वर, कूपेश्वर, जलेश्वर, कुशेश्वर, कामदानाथ, भैरवस्थान, श्री क्षेत्र, सीतामढ़ी, उग्रतारा, भुवनेश्वरी, चामुण्डा योगनिद्रा, धनुषा आदि स्थान भी मिथिला के सिद्धपीठ हैं।

कहते हैं कि–

मिथिला सर्वतः पुण्या सुराणामपि दुर्लभा।
अतस्तीर्थेषु सर्वेषु मिथिला पूज्यते सदा॥

(अर्थात् सभी पुण्य स्थलों में मिथिला सर्वश्रेष्ठ है। देवों को भी यह दुर्लभ है। अतः तीर्थों में मिथिला की सबसे अधिक महिमा है।)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मिथिला का इतिहास उसके साहित्य ज्ञान की जिज्ञासा और सांस्कृतिक परंपरा पर आधृत रहा है। मिथिला वैदिक और उपनिषद्विद्या का प्रमुख केन्द्र रही है। विभिन्न प्रदेश और भू-भाग के तत्त्वद्रष्टा यहाँ आकर अपनी अंतिम ज्ञान-पिपासा को शांत करते रहे हैं। राजर्षि जनक से अध्यात्म चर्चा करने के लिए दूर-दूर से लोग मिथिला आते थे।

भारतीय आस्तिक दर्शन की छह शाखाओं में से चार शाखाओं की स्थापना (१००० ई.पू. से ६०० ई.पू.) मिथिला में ही हुई। गौतम का न्यायदर्शन, कणाद का वैशेषिकदर्शन, जैमिनि का मीमांसादर्शन तथा कपिल के सांख्यदर्शन की प्राणप्रतिष्ठा यहीं हुई। निमि के संग गौतम आए और गौतम के संग संस्कृत विद्या। गौतम-कपिल-कणाद और जैमिनि न्याय आदि दर्शन के

मात्र प्रवर्तक नहीं थे अपितु मिथिला के वरद पुत्र भी थे। ६०० ई.पू. से ३०० ई.पू. में वैशाली बौद्ध मत का केंद्र रहा किंतु उसके बाद कुमारिल भट्ट तथा उदयनाचार्य ने पुनः मिथिला में वैदिक विचारधारा को प्रतिष्ठापित किया।

मिथिला में बौद्ध धर्म का बहुत प्रसार हुआ था, किंतु ब्राह्मण धर्म और संस्कृति कभी भी लुप्त नहीं हुई। उच्च वर्गीय सामाजिक संरचना कभी भंग नहीं हुई, भले ही उसकी विकासगति अन्तर्मुखी बनी रही। सातवीं शताब्दी में इस पर तिब्बती आक्रमण हुए। आठवीं सदी के अंतिम चरण में बंगाल के पालनरेशों का आधिपत्य हुआ और अंत में १०९७ ई. में कर्णाटवंशीय क्षत्रिय राजा नान्यदेव ने स्वतंत्र मिथिला राज्य की स्थापना की।

नान्यदेव के आने से मिथिला में वैदिक ब्राह्मणसंस्कृति के उत्कर्ष का नया युग आरंभ हुआ और समाज स्मृति-आधारित संरचना में चलने लगा। बौद्ध धर्म का थोड़ा बहुत बचा प्रभाव भी लुप्त हो गया।

कर्णाट नरेशों के शासनकाल (१०९७ ई. से १३२६ ई.) में साहित्य और कला की उल्लेखनीय प्रगति हुई। परंपरागत शास्त्रीय चिंतन, साहित्यिक विकास, संगीत साधना आदि की प्रगति ऐतिहासिक दृष्टि से स्मरणीय रही है। इसी काल में संस्कृत साहित्यसाधना के साथ-साथ मिथिला की लोकभाषा में भी साहित्यरचना का शुभारंभ हुआ।

कर्णाट राजवंश के पतन के बाद मिथिलाराज्य केंद्रीय सत्ता (इस्लामी शासन) में ओइनवार कुल के राजवंश के अधीन (चौदहवीं शताब्दी के मध्य में) आया। ओइनवार कुल का शासन सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक चला। इसी मध्य विद्यापति

उत्पन्न हुए, जिन्होंने जनभाषा को साहित्यिक गौरव प्रदान कर 'मैथिली' को साहित्यिक गरिमा प्रदान की। इससे मैथिलीसंगीत, मिथिला की विशिष्ट आध्यात्मिक और भौतिक भक्तिधारा को प्रोत्साहन मिला।

ओइनबार राजवंश के पतन होने पर सन् १५५७ ई. में ब्राह्मण राजवंश, खण्डबलाकुल के महामहोपाध्याय महेश ठाकुर के अधीन मिथिला का शासन आया और मिथिला में ब्राह्मणवादी संस्कृति पनपती रही। बाद में ब्रिटिश शासनकाल में अंगरेजी भाषा और संस्कृति के संपर्क के कारण मिथिला की संस्कृति और भाषा में परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा।

मिथिला की धार्मिक मान्यता

मिथिला की धार्मिक मान्यता में सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी समाहित है। आर्य संस्कृति के इस भू-भाग में सर्वप्रथम पदार्पण करने के कारण वैदिक कर्मकांड का सघन प्रचार हुआ, किंतु आगे चलकर जैन और बौद्ध धर्म के प्रवेश के कारण वैदिक संस्कृति की धारा में कुछ शिथिलता भी आई। तथापि जनजीवन में वैदिक धर्म के सघन प्रवेश के कारण वैदिक संस्कृति लुप्त न हो सकी और बुद्धयुग की समाप्ति पर वैदिक मतावलंबी शासक के अधीन एक विशिष्ट युग का आरंभ हुआ। चौदहवीं शताब्दी में कविशेखर ज्योतिरीश्वर ठाकुर एवं महाकवि विद्यापति ने मैथिली भाषा साहित्य की प्रतिष्ठा की।

मिथिला की धार्मिक संस्कृति में शिवभक्ति को अत्यधिक महत्ता दी गई है। मिथिला में आर्य ब्राह्मणधर्म की स्थापना से पहले से ही शिव की पूजा प्रचलित रही है। और वह आज भी

है। मैथिली गीतों में 'महेशवानी' और शिवनचारी का बहुत महत्व है। इसी प्रकार विष्णु के 'शालग्राम' की पूजा तथा चैत्यपूजा (पूर्वज के दाहस्थल या चितास्थान पर बनी समाधि की पूजा) की भी मिथिला में प्रथा है।

मिथिला की धार्मिक एवं सांस्कृतिक विचारधारा समन्वयात्मक रही है। यही कारण है कि अन्य धर्मों के लोकप्रिय सामाजिक तत्त्वों को भी यहाँ ग्रहण किया जाता रहा है।

मिथिला में बौद्ध संस्कृति और वैदिक संस्कृति में बहुत समय तक संघर्ष का वातावरण बना रहा और अंत में बौद्ध धर्म का पराजय हुआ। बौद्ध धर्म के सामाजिक तत्त्व को मिथिला की वैदिक संस्कृति में समावेश कर लिया गया। मिथिला में प्रचलित वर्ष भर के पर्व त्योहारों के विवरण में बौद्ध धर्म के..अनेक पर्वों का उल्लेख चण्डेश्वर ठाकुर के 'कृति रत्नाकर' में हुआ है। तब तक भगवान् बुद्ध हिंदू धर्म के देवता के रूप में मान्य हो चुके थे।

मिथिला की उपासना पद्धति

मिथिला, धर्म के संबंध में कभी भी सांप्रदायिक नहीं रही। वर्णाश्रम धर्म को मान्यता देते हुए उदारमना मिथिलावासी अनेक देवों की उपासना को प्रधानता देते रहे हैं। सूर्य, गणपति, शक्ति, शिव और विष्णु इन पाँच देवों की उपासना यहाँ होती रही है। तथापि शिव, शक्ति और विष्णु की आराधना मिथिला की धार्मिक विशेषता हो गई है। निष्ठावान मिथिलावासी के ललाट पर भस्म से त्रिपुण्ड (शिवोपासना का प्रतीक) उस पर श्रीखंड चंदन का लंबाकार टीका (विष्णूपासना का प्रतीक) तथा भ्रूमध्य

में सिंदूर का गोल बिंदु टीका (शक्ति की आराधना का प्रतीक) ये तीनों प्रतीक शैव, वैष्णव और शाक्तसाधना के चिह्न हैं और प्रायः मैथिलों के मस्तक पर देखा जाता है।

शिव की पूजा मिथिला में बहुत प्रशस्त है और प्रायः सभी जाति और संप्रदाय के लोग समान रूप से शिवाराधन करते हैं। शिव यहाँ के लोकदेवता हैं और यही कारण है कि मिट्टी से हजारो लाखों की संख्या में पार्थिव शिवलिंग बनाकर पूजा करने की परंपरा प्रायः मिथिला में ही है। मिथिला के हर क्षेत्र में कोई न कोई शिव का प्रसिद्ध मंदिर और प्रत्येक गाँव में शिव मंदिर का होना शिवाराधन की महत्ता का परिचायक है। शिवोपासना की प्रधानता के कारण महाकवि विद्यापति की महेशवानी और नचारी बहुत प्रसिद्ध भक्तिगीत माने गए हैं और मिथिला के जन-जन के कंठ से ये गीत सहज ही मुखरित होते रहते हैं।

मिथिला की शक्ति-उपासना का भी शिवाराधन से कम महत्त्व नहीं है। शिव मुक्तिप्रदाता हैं तो शक्ति सिद्धिदात्री। बिना शक्ति आराधना के शिवोपासना भी व्यर्थ है। अतः दोनों अन्योन्याश्रित हैं। परन्तु शक्ति-उपासना में सिद्धि प्राप्त करने के लिए तंत्र साधना का भी मिथिला में विधान है। तंत्रसाधना के प्रमुख तीर्थ मिथिला में 'महिषी' में उग्रतारा स्थान तथा मधुबनी में 'उच्चैठ' (जहाँ विद्यापति ने आराधना की) आदि प्रसिद्ध हैं। अतः शिवाराधना सहित तंत्रशक्ति की उपासना मिथिला की संस्कृति का एक विशिष्ट और अभिन्न अंग है।

मिथिला के प्रत्येक घर में किसी शुभकार्य से पहले शक्तिपूजन (गोसाउनि पूजा अथवा कुलदेवता की पूजा) और गोसाउनि के गीत का गायन अनिवार्य रूप से किया जाता है। इसी

प्रकार के पर्वों के अवसर पर पिसे चावल के द्रव से अरिपन (अल्पना, जो धार्मिक प्रतीकों से युक्त हो) अंकित किया जाता है, उस पर भी सिंदूर का ठोप (बिंदु) लगाया जाता है। यह सब परिपाटी तंत्रोपासना की प्रतीक है। शक्ति-आराधना का एक अन्य दृष्टांत मिथिला में यह भी पाया जाता है कि संतति को प्रथम बार जो मौखिक श्लोक कंठस्थ कराया जाता है उससे भी गौरी और शिव ही आराध्य हैं। कंठस्थ कराया जाने वाला श्लोक इस प्रकार है–

सा ते भवतु सुप्रीता देवी शिखरवासिनी।
उग्रेण तपसा लब्धो यया पशुपतिः पतिः॥१॥

(हिमशिखर पर रहने वाली गौरी तुम पर प्रसन्न हों, कृपा करें, जिन्होंने अपनी कठोर तपस्या से पशुपति भगवान शिव को पतिरूप में प्राप्त किया।)

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला॥

(शिव की कृपा से सज्जनों के कार्य में सिद्धि हो, जिन शिव के सिर पर गंगा के फेन की आभा जैसी चंद्रमा की कला है।)

तंत्रोपासना में कुमारी पूजा और कुमारी भोजन की परंपरा तथा मातृकापूजा के अंतर्गत माता अथवा मातृतुल्य गुरुवत् आदरणीय मातृशक्ति से इष्टदेवता के मंत्र की नवरात्र में दीक्षा लेना तथा विजयादशमी के पर्व को विशेष उत्साह से मनाना मिथिला में सर्वत्र तंत्रसाधना के रूप में प्रचलित है। यहाँ तक कि मिथिलाक्षर या तिरहुताक्षर का विकास जिस प्रतीक चिह्न से हुआ वह चिह्न

('आँजी') तांत्रिक कुंडेलिनी का बोधक है। सिर पर पुरुषों द्वारा एक विशेष प्रकार की पगड़ी (जिसे मिथिला में 'पाग' कहा जाता है) धारण करना भी तांत्रिक उपासना का प्रतीक है।

यद्यपि शिवभक्ति की तुलना में विष्णु-आराधना का प्रचलन मिथिला में कम है, तथापि विष्णुसंबंधी व्रत आराधना भी वहाँ होती है। वहाँ वैष्णवों का भी समुदाय कम नहीं है। सांसारिक बंधन से मुक्त होकर वैरागी या योगी रूप में आए व्यक्ति वैष्णव बन जाते हैं जो निरामिष भोजी और तुलसीमाला की कंठी पहन लेते हैं। इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। किंतु यह निर्विवाद है कि मिथिलावासी पंचदेवोपासक है।

मिथिला की धर्म-संस्कृति में समन्वयात्मक प्रवृत्ति हमेशा बनी रही है। इस प्रवृत्ति के कारण ही मिथिला के वैदिक धर्म में अन्य धर्मों के लोकप्रिय सामाजिक तत्त्वों को ग्रहण कर लिया गया है। उपनिषद् कालीन मिथिला के जनक, याज्ञवल्क्य, गार्गी, मैत्रेयी आदि चिन्तकों ने वैदिक कट्टरता और बाह्याडंबर के प्रति हठवादिता छोड़कर धर्म संस्कृति को सरल, लोकसम्मत और उदार बनाने में पूर्ण सहयोग दिया था।

जब मिथिला में बौद्ध और वैदिक संस्कृति के बीच काफी समय तक संघर्ष चलता रहा और अंत में बौद्ध धर्म परास्त हो गया तब भी बौद्ध धर्म के लोक प्रचलित सामाजिक तत्वों को मिथिला की वैदिक संस्कृति में समाहित कर लिया गया। चण्डेश्वर ठाकुर के 'कृत्तिरत्नाकर' ग्रंथ में मिथिला में प्रचलित वर्ष भर के सभी महीनों के पर्व-त्योहारों के विवरण में बौद्ध धर्म के अनेक पर्वों का ब्राह्मण धर्म की कृति के रूप में उल्लेख हुआ है।

मिथिला की सांस्कृतिक परंपरा में धर्मनिरपेक्षता तथा एकता का पूर्ण समावेश रहा है। यहाँ हिंदू और मुसलमान आपसी सौहार्द एवं सद्भाव से, भाईचारे की भावना से मिलजुलकर रहते आए हैं। हिंदुओं ने मुसलमानों की भाषा अरबी और फारसी के शब्दों को अपने जीवन और व्यवहार में सदैव अपनाया है। जैसे– कबुला, रिकवी फरक, दलान, हवेली आदि शब्द प्रायः दैनिक व्यवहार में प्रयोग में आते हैं। इन शब्दों के अर्थ क्रमशः देवता को मनौती पूरी होने पर भेंट देने की प्रतिज्ञा (कबुला) तश्तरी के लिए रिकवी शब्द, विवाह स्थिर करने में दिया जाने वाला धन (फरक) आंगन से बाहर बैठने का सार्वजनिक स्थान (दलान) तथा किसी सम्मानित व्यक्ति के निवासगृह के लिए (हवेली) आदि हैं। इसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के पर्व के अवसर पर निकाले जाने वाले जुलूस, ताजिया (या दाहा) के अवसर तथा उत्सवों में खुशी व्यक्त कर शुभकामना देते हैं। मुसलमानों द्वारा राम और कृष्ण के भक्तिगीतों का गाया जाना भी उनके सौहार्द का प्रतीक है। इसके अलावा अन्य सामुदायिक कार्यों में भी एक दूसरे का सहयोग देखने को मिलता है, जैसे हिंदुओं का मुस्लिम पीरों (पंचपिरिया, गाजी मियाँ आदि) की पूजा में।

संगीत और कला

मिथिला के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में संगीत और कला का अत्यधिक महत्त्व रहा है। यही कारण है कि मैथिली साहित्य का विकास गीत से हुआ। यहाँ प्राचीनकाल से ही संगीत साधना को महत्त्व दिया जाता रहा है। मैथिली राग-रागिनियों का प्राचीनतम उल्लेख सिद्धों के 'चर्यापद' में उपलब्ध

होता है। कर्णाटनरेश महाराज नान्यदेव ने (१०९७-११३३ ई. में) मिथिला में अपना राज्य स्थापित किया। वे उच्च कोटि के संगीतकार थे, साथ ही साहित्यकला के प्रेमी विद्वान थे। उन्होंने संगीत के राग-रागिनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण अपनी पुस्तक 'सरस्वतीहृदयालंकार' में विशद रूप में किया है। उनके संगीत प्रेम ने मिथिला को श्रेष्ठ संगीत परंपरा दी और उन्होंने अपने संगीतग्रंथ में मैथिली राग-रागिनियों का क्रमबद्ध रीति से उल्लेख किया है। उनके संगीत रागों पर 'गीतगोविन्द' के रचयिता महाकवि जयदेव (११२० ई.) का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। विद्यापति ने जयदेव से प्रेरणा ग्रहण की और जयदेव की शैली पर अपने गीतों में ध्वनि और अर्थ दोनों को लोकप्रिय बनाकर आधुनिकीकरण किया तो अभिनव जयदेव कहलाने लगे।

ब्रजभूमि की तरह मिथिला भी संगीत की धरती रही है। कर्णाट राजवंश के नान्यदेव ने हास्य और शृंगार रस के लिए मध्य लय, करुण रस के लिए विलंबित तथा वीर, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स और भयानक रसों के लिए द्रुत लय को मान्यता प्रदान की। मिथिला के प्रसिद्ध संगीतज्ञ 'राग-तरंगिणी' के प्रणेता लोचन कवि (सन् १६८१ ई.) ने विभिन्न रागों की चर्चा की है, जिनमें कौशिक, भैरवी, हिंडोल, मनसाई, श्रीदीपक, गुजरी, मलार, बसंत, ललित विभास, भूपाली, राज, विजय, रामकली, कामोद, पटमंजरी आदि प्रमुख हैं। महाकवि लोचनका संगीतज्ञ के रूप में विशेष स्थान है। उन्होंने पहली बार भारतीय संगीतधारा में मिथिला के संगीत की शास्त्रीय विवेचना करके उसका स्वरूप प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया। उन्होंने मैथिली पदावली के छंदों और राग रागिनी दोनों में अभेद संबंध स्थापित किया।

मिथिलादेशीय संगीत का विकास-प्रसार महाराज हरिसिंह देव (१२९५-१३२४) के राज्यकाल में भी विशेष रूप से हुआ। वे संगीतशास्त्र के स्वयं मर्मज्ञ ज्ञाता थे। विद्यापति के ग्रंथ 'पुरुष परीक्षा' के 'नृत्यविद्यकथा' में हरिसिंह देव के संगीतशास्त्र में प्रखर वैदुष्य का उल्लेख हुआ है। उनके आश्रित संगीत विशेषज्ञ ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने अपने 'वर्णरत्नाकर' में गीत एवं नृत्य दोनों कलाओं का सांगोपांग और सजीव वर्णन किया है। इन तथ्यों से मिथिला की समृद्ध संगीत साधना का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

महाराज हरिसिंहदेव के नेपाल पलायन के बाद उनके वंशजों ने वहीं संगीत साधना को प्रश्रय दिया और मिथिलादेशीय राग रागिनियों का प्रचार-प्रसार हुआ। इसी क्रम में जगद्धर ने 'संगीतसर्वस्व' संगीतशास्त्र के मर्मज्ञ मल्लनरपति जगज्ज्योतिर्मल्ल (१६१३-३७) ने 'स्वरोदयटीका' 'संगीतभास्कर' 'संगीतसारार्णव' 'संगीतचन्द्र' 'संगीतसारसंग्रह' 'गीतपंचाशिका' आदि अनेक संगीतशास्त्र के ग्रंथों की रचना की। 'गीतपंचाशिका' में राग रागिनियों के स्पष्ट उल्लेख के साथ-साथ नेपाल में प्रचलित लगनी, कोबर, झूमर के उदाहरण भी दिए गए हैं।

कर्णाट वंश के पश्चात् ओइनिवार राजवंश ने मिथिला में (१३५३ से १५२७ ई. तक) अपने शासनकाल में विद्या, कला, संगीत आदि को भरपूर संरक्षण दिया। इस वंश के महत्त्वपूर्ण सर्वाधिक प्रसिद्ध और शक्तिमान राजा, महाकवि विद्यापति के संरक्षक महाराज-शिवसिंह ने विद्यापति की कोमलकांत पदावली को संगीत की कसौटी पर, अपने आश्रित जयत नामक गायन विशेषज्ञ द्वारा करवाकर लोकप्रिय बनाया।

ओइनिवार वंश के पश्चात् कुछ समय तक मिथिला में अराजकता की स्थिति रही और फिर 'खण्डबलाकुल' का शासन आया। उस समय भी मिथिला में विद्या, कला, साहित्य संगीत की साधना होती रही। इस अवधि में मिथिलादेशीय संगीत का आकरग्रंथ 'श्रीहस्तमुक्तावली' रचा गया। इस ग्रंथ की रचना म.म. महेशठाकुर के पुत्र श्री शुभंकर ठाकुर ने की। इन्होंने नृत्य संबंधी ग्रंथ 'संगीत दामोदर' की भी रचना की जो मिथिला की नृत्यप्रियता का आभास कराता है।

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि मिथिला संगीतसाधना का बहुत बड़ा केन्द्र रहा है और उसकी यह अनुपम विशेषता आज भी मिथिला में दिखाई पड़ती है। निःसन्देह कहा जा सकता है कि मिथिला के साहित्य का विकास भी संगीत या गीत से हुआ है और उसमें गीतकाव्य की प्रधानता रही है।

'तिरहुति' नाम से प्रशस्त शृंगार रस के गेय मधुर गीतों का, लोकगीत के रूप में, मिथिला में सर्वत्र प्रचलन है। इन गीतों ने मिथिला की संगीतप्रियता में चार चाँद लगा दिए हैं और संगीत कला की उत्कृष्टता का परिचय दिया है। मैथिली गीतकाव्य का सर्वप्रमुख भेद 'तिरहुति' को ही माना जाता है। इसमें नायक-नायिका के संयोग-वियोग का रागात्मक वर्णन होता है। 'तिरहुति' के मुख्यतः बटगवनी, गोआलरि, रास, और मान ये चार उपभेद हैं।

तिरहुति के अतिरिक्त मिथिला के अन्य प्रचलित लोकगीतों में समदाउनि (विदा-गीत), लगनी (श्रमपरिहार का गीत) चैतावर (चैत मास का लोकगीत), मलार (ऋतु गीत), योग (विवाह के अवसर का विवाह-गीत) उचिती (विवाहोपरान्त दामाद और

समधी के लिए गेय गीत) सोहर (राम और कृष्ण के जन्म के उल्लासपूर्ण प्रसंग में गेय गीत), बारहमासा, छहमासा, चौमासा (नायिका के विरह वर्णन प्रसंग में गेय गीत) आदि हैं।

इसके अतिरिक्त मिथिला में भक्ति-गीत भी प्रचलित है, जिनमें **गोसाउनि गीत** (दस महाविद्या का ध्यान-भक्ति मूलक गेय पद) **विष्णुपद** (विष्णु के अवतार या कृष्णविषयक भक्तिगीत), **महेशवानी** (शिव संबंधी रोचक प्रसंग के गीत), **नचारी** (शिव संबंधी प्रार्थना के गीत, जिन्हें भावतन्मयता में नाच-नाच कर वाद्य सहित गाया जाय) आदि हैं। नचारी में गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का मधुर समन्वय रहता है। 'नचारी' शब्द शिवभक्ति की प्रधानता के कारण शिवमूलक भक्ति-रचना के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

भारतीय साहित्य में नचारी के रूप में विद्यापति के शिवगीत एक मौलिक देन है और मिथिला में यह भक्तिकाव्य का सर्वाधिक लोकप्रिय रूप बन गया है। गत पाँच से अधिक सदियों में मिथिला के सैकड़ों कवियों ने ऐसे हजारों गीत लिखे। ओइनिवार राज्यवंश के पतन के बाद मिथिला के भाषासाहित्य और नृत्यगीत के विकास का मुख्य केन्द्र नेपाल का राजदरबार हो गया। नेपाल में सभी भक्तिगीत नचारी के रूप में विष्णु के नचारी, गणेश के नचारी, सूर्य के नचारी, दुर्गा के नचारी आदि लिखे गए। नचारी के इस व्यापक अर्थ की पुष्टि जगज्ज्योतिर्मल्ल (१६१३-३७) के 'गीतपंचाशिका' से होती है।

मिथिला के लोक-नृत्यों में 'किरतनियाँ' मुख्य लोकनाट्य है। इसमें ढोलक, झाल, हारमोनियम, आदि वाद्य यंत्रों के साथ

कीर्तन गाया जाता है और कीर्तन के साथ-साथ श्रीकृष्ण की लीलाओं का नाट्य अभिनय भी प्रस्तुत किया जाता है।

मिथिला के सांस्कृतिक जीवन को यहाँ की कला, पर्व, उत्सव आदि ने सदैव अलंकृत किया है। यहाँ की कलात्मक संपदा प्राचीन होने के साथ-साथ समृद्ध भी रही है।

चित्रकला

कला-संस्कृति की परंपरा में मिथिला पेंटिंग (मूलतः मधुबनी पेंटिंग या चित्रकला के नाम से प्रसिद्ध) का स्थान सर्वोपरि है।

मिथिला की लोकचित्र शैली में यहाँ के लोकजीवन की छाप है। यह संपूर्ण मिथिला के जनमानस की कला है और मुख्य रूप से दरभंगा, मधुबनी, सहरसा, सुपौल और पूर्णियाँ आदि जिलों में अपना आधिपत्य जमाये हुए है। यद्यपि १९६२ ई. में मधुबनी इस कला का केंद्रीय स्थल बना था और इसी कारण यह कला **'मधुबनी लोकचित्र कला'** के रूप में पूरी दुनिया में जानी जाती है।

प्रायः विद्यापति के लोकगीतों का प्रभाव इस शैली के चित्रकारों पर बहुत अधिक पड़ा है। चित्रकला में तीन धाराओं का प्रवाह स्वतः स्पष्ट परिलक्षित होता है। शैली की अति प्राचीन चिंतनधारा में शैव चिंतनधारा रही है। इसके चित्रण में चित्रफलक के किनारों में त्रिशूल, डमरू, नागफन, बसहा (बैल) के क्रमिक अलंकरण के साथ महादेव-पार्वती के जीवन से जुड़े चित्र उकेरे जाते हैं। इन चित्रों के बिंब में लिंग और आधार-योनि की बहुतायत देखने को मिलती है। कतिपय कलाकारों ने द्वितीया के

चाँद को भी प्रतिबिंबित किया है।

लोकचित्र शैली की दूसरी चिंतनधारा में 'शाक्त चिंतनधारा' है। शाक्त चिंतनधारा में शक्ति के विभिन्न रूप दिखाए गए हैं। इस प्रकार के चित्रों के आरेखन में किनारों को खंड-मुंड, नारियल, कलश, मछली, स्त्री की बाहर निकली जिह्वा, आभूषण, आग की ज्वाला और तीसरा नेत्र आदि से बिंबित किया गया है। शाक्त चिंतनधारा के चित्रों में कलश, पल्लव और प्रज्वलित दीप को संयोजित करने की परंपरा मिलती है।

इन चित्रों में देवियों के वाहन, हाथी, हंस और सिंह अनोखी प्रेरणा से स्फूर्त दिखाए गए हैं। इसके अतिरिक्त देवियों की अठारह भुजाएँ विभिन्न आयुधों से सुसज्जित चित्रांकित की जाती हैं। लोकमान्यता के अनुसार इन चित्रों के स्वरूप में अन्तर भी दिखाई पड़ता है।

मिथिला लोकचित्रशैली की तीसरी चिंतनधारा वैष्णव चिंतनधारा है, जिसे राम और कृष्ण की दो धाराओं में विभक्त किया गया है। रामभक्ति से संबंधित चित्रों में राम के विभिन्न रूपों को सीता के साथ चित्रित करने की परंपरा रही है। इसी क्रम में लक्ष्मी, सरस्वती और भुजगशायी विष्णु के चित्र भी मिलते हैं।

मिथिला की स्त्रियों और जनमानस में तुलसी के रामचरितमानस और वाल्मीकिरामायण के कथा प्रसंग अधिक प्रचलित हैं। अतः यहाँ की कलाविद स्त्रियाँ रामविवाह, धनुष भंग, पुष्पवाटिका, सीताहरण, केवटप्रसंग, सीता का ससुराल जाना और गिरिजापूजन से संबंधित चित्र सृजित करती हैं। कृष्ण से संबंधित चित्रों में श्रीकृष्ण का गोवर्धनपर्वत धारण करना, मुरली

और गाय, कालियदमन, कंदुकक्रीड़ा, कृष्ण–राधा प्रेमालाप और राधाकृष्ण का वनगमन अधिक प्रचलित है। इसके अतिरिक्त चित्रों में श्रीमद्भागवत, गीतगोविंद और विद्यापति के गीतों का प्रभाव यहाँ के जनमानस और स्त्री कलाकार पर अत्यधिक रहा है। इन कलाकारों ने लोकरुचि के अनुसार चित्रांकन किए हैं। उल्लेखनीय है कि आज भी संपूर्ण मिथिला में गृहणियाँ तथा कुमारी लड़कियाँ लोकपरंपरा के अनुसार चित्र उकेरने में सक्रिय देखी जाती हैं। यद्यपि मिथिला चित्रकला में महिलाओं की प्रमुख भूमिका रही है परंतु कुछ पुरुष चित्रकारों ने भी महिलाओं के क्षेत्र में पहल की है।

मिथिला चित्रकला में तीन प्रकार से चित्रांकन किया जाता है– भूमिचित्रण (अरिपन), भित्तिचित्रण तथा पट्टचित्रण। भूमिचित्रण (अरिपन) की परंपरा मिथिला में बहुत अधिक प्रचलित है। इसमें मिथिला की संस्कृति परिलक्षित होती है। इसे वैदिक संस्कृति का प्रतिफल माना गया है। अरिपन में अंकित सभी रेखाएँ एवं चिह्न, अठारह पुराणों तथा शास्त्रों के गूढ़ तत्वों पर आधारित हैं।

मिथिला में अरिपन के समान भित्तिचित्र की भी समृद्ध परंपरा रही है। भित्तिचित्रों में धार्मिक भावनाओं के प्रतीक शिव–पार्वती, राधा–कृष्ण, विष्णु, दुर्गा–काली, लक्ष्मी–सरस्वती, दशावतार आदि की प्रमुखता रहती है। इन चित्रों के दार्शनिक तथ्य से जनजीवन उत्प्रेरित होता रहता है, जो लौकिक एवं पारलौकिक जीवनपरंपरा का द्योतक है। इसके अतिरिक्त वर–कन्या, हाथी–मछली, तोता–मैना, सूर्य–चन्द्र, कमल–शंख आदि के चित्र भी भित्तिचित्रों में बनाए जाते हैं। भित्तिचित्रकला में कोहबर–

चित्रण अथवा कोहबर-लेखन का एक विशेष महत्त्व है क्योंकि इसमें मंगलसूचक मान्यताएँ अन्तर्निहित हैं। कोहबरलेखन मिथिला की एक तांत्रिक पद्धति की चित्रकला है, जिसमें अनेक प्रतीकचिह्नों का निरूपण, यहाँ की तंत्रोपासना का प्रतीक है।

मिथिला की पट्ट-चित्रकला का विकास प्राचीन भारतीय चित्रकला एवं नेपाल की पट्टचित्रकला से हुआ है। इसमें विभिन्न प्रकार के रंगों का संयोजन किया जाता है। आरंभ में चावल के आँटा और सिंदूर से अरिपन बनाया जाता था। ग्रामीण महिलाएँ फूलों, 'कुसुम' नामक विशिष्ट फूलों तथा प्राकृतिक स्त्रोतों से स्वयं रंग बनाती थीं। बाद में इन चित्रों के अंकन के लिए खनिज रंगों की पहचान हुई और विविध रंग प्रयोग में लाए जाने लगे। शुरू में तो एक कलमनुमा लकड़ी के सिरे पर रुई या कपड़ा लपेटकर तूलिका का प्रयोग होता था, पर आजकल आधुनिक तूलिकाओं एवं रासायनिक रंगों का प्रयोग इन चित्रों को बनाने में होने लगा है।

विगत वर्षों में मिथिला चित्रकला की लोकप्रियता देश विदेश में बढ़ी है। इस शैली की चित्रकला में अनेक स्त्री-कलाकारों ने पहल की है और विदेशों में भी मिथिला चित्रकला की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई है। इस शैली की चित्रकला में प्रख्यात महिला चित्रकारों में पद्मश्री सिया देवी, कौशल्या देवी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जिनकी प्रेरणा से मिथिला के घर-घर में महिलाओं, किशोरियों और कन्याओं की पीढ़ी अनवरत, इस कला की अजस्त्र-धारा परंपरा के रूप में आगे बढ़ा रही है।

मिथिला की इस लोक-चित्रकला को जापान में, अन्तर्राष्ट्रीय

स्वरूप देकर, एक मिथिला संग्रहालय की स्थापना कर महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। विश्व के इस अनुपम संग्रहालय में मिथिला के दुर्लभ चित्रों का संकलन है। जर्मनी और अमेरिका के कलाकारों ने भी मिथिला चित्रकला पर शोध कर इसके अर्थतंत्र में सहयोग दिया है और इसे विश्वपटल पर बड़ी ख्याति मिली है।

मिथिला का लोकजीवन धर्म-संप्रदाय, जाति-पांति आदि से परे एक विशिष्ट एकता के सूत्र में बँधा हुआ है। यहाँ का जन-जन, चाहे वह धनी हो या निर्धन, अपने कर्त्तव्यों और श्रम के प्रति सचेष्ट रहकर आत्मिक आनन्द और सुख के लिए यहाँ की कला, संस्कृति की साधना के साथ-साथ वर्ष भर उत्सवों में लीन रहता है। यही तो मिथिला की एकता और एक संस्कृति के परिचायक हैं।

मूर्तिकला

लोकचित्रकला के साथ-साथ मिथिला की एक अन्य कला, 'सामाचकेवा' जो मूर्तिकला का रूप है, मिथिला के अनुपम लोकजीवन और संस्कृति का परिचय देती है।

'सामाचकेबा' में मिट्टी की अनगढ़ मूर्तियाँ, बाँस के हस्तशिल्प, मिथिला पेंटिंग, गायन, सांस्कारिक अनुष्ठान, नृत्य, अभिनय आदि सबका एक साथ समन्वित रूप प्रस्तुत करते हैं। इससे लोकसंस्कृति का अत्यंत आकर्षक दृश्य प्रस्तुत होता है।

'सामाचकेबा को पद्मपुराण की एक कथा से जोड़कर रूपायित किया जाता है। इस कथा में श्रीकृष्ण के दरबार के एक पात्र चूड़क की कुदृष्टि उनकी पुत्री सामा पर पड़ती है। पर सामा तो चारुवाक नामक युवक से प्यार करती है। प्रेमांध चूड़क इस

तथ्य की चुगलखोरी श्रीकृष्ण से करता है। श्रीकृष्ण सामा को शाप देते है। सामा-चारुवाक दोनों पक्षी बन जाते है। बहन के प्रेमी सहित पक्षी बन जाने की खबर सुनकर भाई साम्ब, पिता श्रीकृष्ण से शाप वापस लेने का निवेदन करता है। श्रीकृष्ण उसकी विनती ठुकरा देते हैं। साम्ब शिव की कठोर आराधना कर उन्हें प्रसन्न कर लेता है। शिव के बताए मुक्ति उपाय से साम्ब महिलाओं को संगठित करता है। महिलाएँ दीपमालिका सजाकर कृष्ण के सामने प्रतिरोध करती हैं, कृष्ण शांत होते हैं और सामा-चकेवा शापमुक्त हो जाते हैं।

स्त्रियों के संगठित प्रतिरोध, राजप्रशासन का झुकना, भाई-बन का अटूट प्रेम और चुगलखोर को दंड आदि, सामा-चकेवा पर्व के प्रतीक हैं।

इस कथानक का रोचक अभिनय इस पर्व में होता है। मिथिला में स्त्रियाँ मिट्टी के सामा-चकेबा की मूर्तियाँ बनाकर, उसे रंगकर कार्तिक मास में रात में 'सामाचकेवा' खेल खेलती हैं। साथ में गायन भी होता है। हर रात तालाब, बाग-बगीचा, खेत-खलिहान, मंदिर और ग्राम प्रदक्षिणा का कार्यक्रम चलता रहता है। इसे इसकी रोचकता, दृश्यात्मकता, गीत-संगीत-नृत्य और पारंपरिक स्वरूप की दृष्टि से 'पारंपरिक लोकनृत्य' का रूप दिया गया है। इस पूरे खेल में ननद-भौजाई की चुहलबाजी और हास्य-विनोद, वातावरण को जीवंत बनाए रखते हैं। इस लोकनृत्य की विशेषता में लोक-कल्याण की भावना प्रमुख रहती है और यही लोक-कल्याण का भाव मिथिला के सांस्कृतिक जीवन का आधार है।

शिल्प

मिथिला के सांस्कृतिक जीवन और एकता का प्रतीक 'वेणु-शिल्प' भी है। वेणु शिल्प में बाँस की चीजें बनाई जाती हैं, जिसका मिथिला के ग्राम्य-जीवन से बहुत पुराना संबंध है। यहाँ के दैनिक जीवन में बाँस की बनी चीजों का बहुत अधिक उपयोग होता है। अमीर-गरीब सभी के लिए बाँस की वस्तुएँ उपयोगी हैं। श्रीराम के धनुष-बाण से लेकर श्रीकृष्ण की बाँसुरी इसकी प्राचीनता का बोध कराते हैं। वेणुशिल्प की उन्नति बौद्ध धर्म के विकासकाल में हुई थी। बौद्ध राजा एवं श्रेष्ठी बौद्धों को वेणुवन दान में दिया करते थे। जिन-जिन देशों में बौद्ध धर्म फैला वहाँ वेणु शिल्प भी गया।

मिथिला के रीति-रिवाज एवं धार्मिक अनुष्ठान वेणुशिल्प के बिना पूर्ण नहीं होते। संतति-जन्म के छठे दिन 'छठियार' में बाँस के डाला और सूप में पीले कपड़े में बच्चे को लपेटकर रखने की परंपरा, उपनयन (यज्ञोपवीत) में वरुआ (ब्रह्मचारी बालक) के पलाशदण्ड के साथ बाँस की हरी करची रखने की परंपरा तथा बाँस की छतरी का प्रयोग, उपनयन और विवाह के समय बाँस का मंडप बनाने तथा बाँस का मांगलिक डाला का प्रयोग, सूर्य के प्रसिद्ध लोकपर्व छठ में बाँस से बने सूप और कोनियाँ का प्रयोग, मृत्यु के समय बाँस की अर्थी एवं चलनी सूप, डाला, चटाई, टोकरी, मछली पकड़ने की टोकरी, पिंजरा, पिटारा, पंखे तथा अन्य वेणु-शिल्प से बनी वस्तुओं का मिथिला के पर्वों तथा सामाजिक अनुष्ठानों में बड़ा योगदान है।

मिथिला के ग्रामीण अंचलों में तृण शिल्प के अंग, सिक्की शिल्प का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इस शिल्प का

प्राचीनकाल से ही महत्त्व बना हुआ है। यह एक जीवनोपयोगी कला है तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संवाहित होती रहती है। नदियों के किनारे बसे गाँवों में कुश, कास और मूँज आदि घास प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है, जिनका उपयोग कच्चे मकानों पर छप्पर आदि डालने में भी होता है।

मिथिला के ग्रामीण अंचलों की महिलाएँ अनाज रखने की छोटी कोठी, दडरी, दडरा, बैठने के लिए मोढ़ा, सोने के लिए चटाई आदि बनाती हैं। सिक्कीशिल्प से वस्तुओं के निर्माण में क़ला कौशल की एक अविच्छिन्न धारा बहती चली आ रही है और आर्थिक स्थिति को सुधारने में भी उसका योगदान रहता है।

लोकनृत्य

मिथिला के कतिपय प्रमुख लोकनृत्य भी यहाँ के जनजीवन में समाविष्ट हैं, जिनसे मिथिला की सांस्कृतिक जीवनधारा का परिचय मिलता है। इन नृत्यों में 'जट-जटिन' नृत्य का उल्लेख करना प्रासंगिक प्रतीत होता है। यह स्त्रियों का एक आनुष्ठानिक खेल-नृत्य है जो अकाल और सूखे की स्थिति में इन्द्रदेव को प्रसन्न करने के लिए वर्षा की कामना से किया जाता है। इसमें पूर्णरूप से स्त्रियों की सहभागिता होती है और पुरुषों का सहयोग वर्जित होता है। आषाढ़, श्रावण, भाद्र मासों की चाँदनी रात में यह खेल होता है। इस खेल में गीत, नृत्य, अभिनय होता है किंतु वादन नहीं होता। किसी भी आंगन, दालान, खलिहान, खेत में इसका आयोजन होता है। प्रदर्शन गोलाकार जगह पर होता है और बीच में एक काल्पनिक रेखा होती है। दर्शक स्त्रियाँ चारों तरफ बैठती हैं तो युवा लड़कियाँ और विवाहित स्त्रियाँ प्रस्तोता होती हैं, जिनका दो दल होता है।

'जट' और **'जटिन'** के नाम से ये दल बिना रूपसज्जा के आवश्यकतानुसार सिपाही, मल्लाह, सुनार, चूड़ीहार, ग्वालिन आदि का अभिनय करते हैं। इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए रात्रिजागरण सहित अभिनय का कथासूत्र स्वतः जुड़कर अभिनीत होता है, जो दर्शनीय होता है।

इसी प्रकार एक अन्य सामूहिक नृत्य **'झरनी'** मिथिलांचल में मुसलमानों के द्वारा 'मुहर्रम' के अवसर पर किया जाता है। इसमें शोक की कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। इस प्रस्तुति में केवल पुरुष ही भाग लेते हैं क्योंकि मृत्युसंबंधी नृत्य होने के कारण महिलाओं का इसमें सम्मिलित होना वर्जित है।

'झरनी' नृत्य में नर्तक अपने दोनों हाथों में बाँस के फट्टों से एक दूसरे नर्तक के हाथों के फट्टों पर मारते हुए नृत्य करते हैं। यह शोक के अवसर का ऐसा नृत्य है जिसमें मुसलिम समाज की भावनाओं का प्रतीक संनिहित है।

मानवसमाज के व्यापक हितरक्षा के लिए सामूहिक प्रतिरोध का प्रतीक मिथिला का **'झिझिया'** नृत्य है। मिथिलांचल में शारदीय नवरात्र के अवसर पर रात्रिप्रहर में स्त्रियों द्वारा इसका आयोजन होता है। पूरे नवरात्र में नौ दिनों तक रात में लोकनृत्य होता है तथा विजयदशमी को समापन होता है।

इस लोकनृत्य के साथ चित्रसेन, उसकी जादू-टोना में पारंगत, रानी तथा भांजा बालरुचि की कथा जुड़ी है। नृत्य में देवताओं के मंगलगान और लोककल्याण के गीत गाए जाते हैं, साथ ही नृत्य का आयोजन होता है। इसमें वाद्य यंत्र का समावेश नहीं होता बल्कि लयबद्ध ताली बजाने तथा थाली पीटने की

प्रथा है। **झिझिया** नृत्य प्रायः रात्रि में होता है जो रात के तीसरे पहर तक चलता है। साज-शृंगार से युक्त नर्तकियों के सिर पर मिट्टी का छिद्रयुक्त घड़ा रखा जाता है, जिसमें मिथिला चित्रकारी होती है और घड़े के भीतर जलता हुआ दीपक गेहूँ के आटे से चिपकाकर रखा जाता है, ताकि नृत्य के दौरान वह गिरे नहीं। घड़े में कई छिद्र होते हैं ताकि दीपक की लौ बाहर निकलती रहे। जलता दीपक देवी माता का प्रतीक माना जाता है। महिलाएँ मिलकर 'ब्रह्मस्थान' के चारों ओर गोलाकार नृत्य करती हैं। महिलाओं का यह सामूहिक 'प्रतिरोधनृत्य' नौ दिनों तक रात्रि में चलकर विजयादशमी के दिन विसर्जित हो जाता है और घड़े को अगले वर्ष के लिए कपड़े से ढककर सुरक्षित रख दिया जाता है।

कीर्तन-भजन, नृत्याभिनय, तथा संगीतमय प्रवचन का समन्वित रूप **'नारदीनृत्य'**, मिथिला के लोकजीवन और संस्कृति का परिचायक एक अन्य नृत्य है। राधाकृष्ण संप्रदाय के प्रभाव से भक्तिपरक इस नृत्य का आयोजन विशेषतः जन्माष्टमी के अवसर पर किया जाता है। गीतगोविंद की पदावलियाँ, राधाकृष्ण विषयक रास, विद्यापति के राधाकृष्ण परक भक्तिगीत तथा शिवपार्वती के भी कतिपय प्रसंग इसमें गाए जाते हैं। पखावज, मृदंग तथा झाल आदि वाद्ययंत्रों के साथ सामूहिक कीर्तन की तर्ज पर अंग-संचालन के साथ लोग नृत्य करते हैं। वे गायन के दौरान राधाकृष्ण का वेश भी धारण कर लेते हैं। नर्तक निर्धारित वेशभूषा माथे पर चंदन तथा विशेष प्रकार के रंगीन वस्त्र में होते हैं। कीर्तन मंडलियाँ कई बार गाँव-शहर में घूम-घूम कर नाचती-गाती और प्रदक्षिणा करती हैं। नृत्य में एकरूपता मिथिलांचल की ऐक्य-संस्कृति की परिचायिका है।

उपर्युक्त शिल्प, कला, संगीत, नृत्य आदि के कतिपय प्रसंगों के अतिरिक्त मिथिला के कुछ प्रमुख पर्वों का परिचय देना भी उचित प्रतीत होता है, जिनसे मिथिला की सांस्कृतिक धारा की छवि उद्घाटित होती है।

पर्वोत्सव

मिथिला का लोकजीवन और जन-जन अपनी संस्कृतिगंगा में आकंठ निमग्न है। उससे विलग होकर वह अपने को निष्प्राण समझता है। यहाँ की संस्कृति की झाँकी हमें उसके पर्वोत्सवों में देखने को मिलती है। प्रायः वर्ष के प्रत्येक मास में कोई न कोई पर्व यहाँ अवश्य आयोजित होता है, जो प्रकृति के अनुरूप आयोजित होकर लोकजीवन का तादात्म्य स्थापित करता है।

श्रावण मास के शुक्ल पक्ष में तृतीयातिथि को मधुश्रावणी पर्व में मिथिलांचल की नवविवाहित कन्याएँ व्रत रखती हैं और यह पर्व बड़े उत्साह और उल्लास से मनाया जाता है। इस पर्व पर अनेक संस्कार गीत गाए जाते हैं– जिनमें परिछन गीत, गोसाउनिक गीत, गौरीपूजन गीत आदि गाए जाने की परंपरा है।

संस्कार पर्व

धर्मशास्त्रों के अनुसार दीर्घायु, कल्याणप्राप्ति के उद्देश्य से मिथिला में प्रत्येक संतति का मुंडन संस्कार करना अनिवार्य है। मुंडन संस्कार को एक यज्ञ के रूप में लिया जाता है। मुंडन के समय संतति की केशराशि को उसकी बुआ (पिता की बहन) के आँचल में लेने की प्रथा है। मुंडन को मिथिला में एक महत्त्वपूर्ण संस्कार माना जाता है और यह संस्कार शुद्ध पवित्र जीवन की कल्पना का प्रतीक होता है। यह मिथिला की संस्कृति का एक

उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस संस्कार के अवसर पर अनेक रीति-रिवाज 'विधियों' के रूप में होते हैं और विभिन्न विधियों में कुलदेवता, पितृदेवता के गीत सहित अनेक गीत महिलाएँ गाती हैं।

मिथिला में उपनयन संस्कार का भी बड़ा महत्व है। उपनयन केवल शिक्षा के अर्थ में सीमित नहीं होता है। यहाँ उपनयन के द्वारा बालक को गुरु, वेद, यम, नियम का व्रत और देवता के सामीप्य के लिए दीक्षित किया जाता है। मैथिलसंस्कृति में बालक को पूर्ण शास्त्रीय विधान से सुसंस्कृत कर मानव बनाने की कल्पना, उपनयन से साकार होती है। उपनयन संस्कार के अवसर पर भी अनेक विधियाँ 'मैथिली' के गीतों से, संपन्न होती है। इन लोकगीतों को महिलाएँ सस्वर गाकर सांस्कृतिक धरोहर को कायम रखती हैं। आज भी मिथिला में उपनयन संस्कार को अत्यंत महत्वपूर्ण मानकर बड़े धूम-धाम से किया जाता है। इसमें परिवार, कुटुंब समाज और क्षेत्र के इष्ट-मित्र सभी को शामिल कर एक अद्भुत सौहार्द और सामाजिक एकता के आनंद का सुख मिलता है।

मिथिला में विवाह संस्कार का भी एक अपूर्व अनोखा रूप प्रचलित है और सामाजिक संस्कृति का दिव्य उदाहरण प्रस्तुत होता है। इस अवसर पर अनेक विधियाँ लौकिक रीतिरिवाज में होती हैं, और प्रत्येक विधि में लोकगीतों का सस्वर गायन एक अद्भुत प्रयोग लगता है।

मिथिला के लोकजीवन में, कण-कण में संगीत, कला-कौशल, अभिनय आदि सभी प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ का जीवन आध्यात्मिकता और लोकाचार की विविधता

से परिपूर्ण है। यहाँ शास्त्र सम्मतता, ईश्वर के प्रति आस्था तथा परम शक्ति के प्रति विश्वास और निष्ठा से पूर्ण सच्चे मानवीय संस्कृति की कल्पना की जाती है, जहाँ जीवन में उदात्त भावनाओं का समावेश होता है। इसी से पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के प्रति की कल्पना साकार होती है। निःसंदेह यह स्पष्ट होता है कि मिथिला की संस्कृति समन्वयवादी और अनुकरणीय है।

मिथिला पारंपरिक विद्या का केंद्र रही है। मिथिला की कीर्ति इसके विद्यानुराग और शास्त्रप्रेम के कारण ही, सर्वत्र व्याप्त रही है। यहाँ के शासक शिक्षा और संस्कृति की श्रीवृद्धि के लिए सदैव समर्पित रहे हैं। यह कवियों और दार्शनिकों की भूमि रही है। प्राचीन अभिलेख बताते हैं कि मिथिला वैदिक और औपनिषदिक ज्ञान का केंद्र रही है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और सांख्यदर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम, कणाद जैमिनि और कपिल आदि भारतीय दार्शनिकों ने अपने जन्म से इस भूमि को अलंकृत किया था। यद्यपि मध्य में बौद्ध मत ने कुछ समय के लिए मिथिला को अपने प्रभाव से दूषित करना चाहा किंतु कुमारिल और उदयन के नेतृत्व में मिथिला पुनः अपने वैदिक विचारधारा की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकी। मिथिला संस्कृतशिक्षा और तांत्रिकविद्या का केंद्र रही है और उसकी लोकसंस्कृति और समाज में इन सबका प्रभाव कूट कूट कर भरा हुआ है।

पंजीप्रबंध

मिथिला के सामाजिक जीवन में एक नवीन क्रांतिकारी व्यवस्था का उदय महाराज हरिसिंह देव के समय में हुआ। यद्यपि आज इस व्यवस्था का पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाववश प्रायः लोप होता जा रहा है तथापि मिथिला के सामाजिक जीवन

में यह एक अनुपम व्यवस्था रही है। 'पंजीप्रबन्ध' नामक व्यवस्था महाराज हरिसिंहदेव के (१३१० ई.) शासनकाल में की गई, जिससे मिथिला की सामाजिक व्यवस्था सुदृढ़ हुई। राजा हरिसिंहदेव ने ब्राह्मण, कायस्थ तथा अन्य वर्णों के लिए वंशावली का निर्माण करवाकर 'पंजीप्रबंध' के अनुसार ही समाज में मिथिलावासियों के विवाह की व्यवस्था करवाई। आज भी इस व्यवस्था के रूप मिथिला में दृष्टिगोचर होते हैं।

पंजीप्रबंध मैथिलों के जीवन की एक बहुत बड़ी शक्ति है जिसने मैथिल परिवारों के धार्मिक और बौद्धिक जीवन को प्रोत्साहित कर रक्त की शुद्धता के साथ-साथ मूल की रक्षा की है। इससे जीवन की गुणवत्ता और उदात्त भावनाओं को बनाए रखने में बल मिलता रहा है।

महाराज हरिसिंह देव ने 'पंजीकार' या 'पंजियार' के द्वारा विभिन्न वर्गों की वंशावलियाँ तैयार कराकर तदनुसार अनुमत वंशावली में सामाजिकों के विवाह की व्यवस्था निर्धारित की। जाति, वर्ण और रक्त की शुद्धता कायम रखने के लिए समाज में इस व्यवस्था का होना उस समय अनिवार्य था और सभी स्मृतिकारों ने भी संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिए इसे अनिवार्य माना था।

पंजीप्रबंध की इस व्यवस्था के मूल में एक कथानक उपलब्ध होता है कि राजा हरिसिंह देव की राजसभा में एक मैथिल ब्राह्मण हरिनाथ नामक विशिष्ट विद्वान थे। वे विद्याप्रचार की कामना से अपनी गृहिणी के पास एक पहरेदार को रक्षक नियुक्त कर देशांतर चले गए। विद्वान की पत्नी परम सुंदरी, पतिव्रता, हृष्ट-पुष्ट शरीर की थी और रक्षक अविवेकी था। रक्षक

शुरू में भक्ति श्रद्धा से सेवा, रक्षा का काम करता रहा। परंतु एक दिन काम के वशीभूत हो मालकिन के समक्ष अपनी कामेच्छा व्यक्त करने लगा। सती साध्वी हरिनाथ की पत्नी क्रोधान्ध हो रक्षक पर उबल पड़ी। रक्षक ने चुनौती देते कहा 'तू मेरी अवहेलना कर रही है।' देख, मैं तेरी दुर्गति करता हूँ और रसातल पहुँचाता हूँ।'

रक्षक गाँव, परिजन में सर्वत्र निंदा कर ब्राह्मणी को अपने प्रेम में आसक्त बताकर कामशास्त्र में अपनी परीक्षा लेने की बात कहकर अपभ्रंश फैलाने लगा और उस स्थान से चला गया।

उस रक्षक के प्रलाप से परिजनों ने हरिनाथ की पत्नी को घर से निकाल दिया। जब देशाटन से हरिनाथ वापस आए तो यह सब वृत्तांत जानकर वे बड़े दुखी हुए और समाज के षड्यंत्र से व्यथित हो पत्नी के पास जाकर उसे धैर्य बँधाया कि उसका न्याय वे राजा से करवायेंगे। ऐसा ही हुआ। राजा हरिसिंहदेव की शरण में जाकर उन्होंने अपनी व्यथा सुनाई।

राजा ने सभा में धर्मशास्त्रानुसार ब्राह्मणी की जाँच का आदेश दिया। तदनुसार निर्धारित नियमानुसार (व्यभिचारिणी मानकर) उसकी परीक्षा की व्यवस्था की गई। स्नानादि से पवित्र हो गाय के गोबर से लिप्त चौके पर बैठाकर उसके हाथ में पीपल का पत्ता रखा गया और पीपल के पत्ते पर जलता हुआ लाल-लाल हल का लौहफाल रखा गया। निर्दोष प्रमाणित करने के लिए यही व्यवस्था उस समय प्रचलित थी। यदि उसका हाथ नहीं जलता तो वह निर्दोष प्रमाणित होती। और यदि हाथ जलने लगता तो दोषी सिद्ध होती।

पंडितों ने सूर्य को साक्षी देकर अभियुक्ता से कहा 'नाहं चांडालगामिनी' मंत्र का उच्चारण कर जलता फाल हाथ पर रखो। अभियुक्ता ने फाल रखा तो उसका हाथ जलने लगा और लोगों को विश्वास हो गया कि वह चाण्डालगामिनी है। हाथ जलने पर भी वह शपथ खाकर अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करती रही, पर किसी ने नहीं माना। वह बारंबार शिव से प्रार्थना करने लगी कि यदि वह सदोष है तो उसे मरण मिले अन्यथा लांछन से वंचित हो जाय।

पुनः पंडितों ने तर्क-वितर्क करके ब्राह्मणी का दुखविषाद जान अभियुक्ता को एक और अवसर देने का निर्णय लिया। इस बार के परीक्षण में उसे 'पतिभिन्ना नाहं चांडालगामिनी' मंत्र कहकर जलता लाल फाल धारण करने के लिए कहा गया। इस बार ब्राह्मणी का हाथ नहीं जला और उसे निर्दोष सिद्ध कर दिया गया।

तथ्य यह निकला कि उसके पति के चांडाल होने की शंका थी, जिसके कारण पहली बार हाथ जला था। पंडित हरिनाथ का पूरा परिचय लेने पर पता चला कि वे अपवित्र चांडाल के रूप में थे क्योंकि ब्राह्मणी से छठे स्थान का रक्त संबंध उनका हुआ था, जो शास्त्रसम्मत नहीं था। अतः वे स्वजनगामी चांडाल थे। इसी कारण ब्राह्मणी का हाथ जला था। राजा ने यह घटना देखकर दुःख प्रकट किया और ब्राह्मणी को सम्मानपूर्वक समाज में ग्राह्य माना। तदनंतर राजा हरिसिंहदेव ने सभा में समाज के मुख्य लोगों को बुलाकर विभिन्न वर्णों की वंशावली बनवाने का निर्णय लिया। (शाके १२३२ तदनुसार सन् १३११ ई. में) इस सभा ने श्रेष्ठता, गुणज्ञता तथा शुद्ध आचरण

के अधार पर चार श्रेणी की पंजी बनवाई और प्रत्येक श्रेणी का एक-एक पंजीकार नियुक्त किया गया। पंजीकारों की सहायता के लिए 'घटक' (Marriage Broker) भी नियुक्त किए गए। तब से पंजीप्रबंध के अनुसार समाज में विवाह होने लगे। कुछ समय तक इस व्यवस्था का पालन कठोर रूप से होता रहा, बाद में क्षत्रियों ने इस पंजी प्रबंध से अपने को अलग कर लिया। मैथिल ब्राह्मणों और कायस्थों में यह व्यवस्था आज भी चल रही है।

मैथिल ब्राह्मणों को श्रेष्ठता क्रम में चार श्रेणियों में पंजी में रखा गया। जो अपना समय सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त धार्मिक कृत्य, पूजा-पाठ, दैवी आराधना में लगाते रहते उन्हें '**श्रोत्रिय**' की (**प्रथम**) श्रेणी में रखा गया।

द्वितीय श्रेणी में उन्हें रखा गया जिनमें श्रोत्रिय होने की योग्यता अथवा संभावना थी और उन्हें 'योग्य' (या जोग) के नाम से जाना गया। योग्य के बाद **तीसरा स्थान** उन्हें दिया गया, जिन्हें 'पंजीबद्ध' करके पंजीबद्ध की श्रेणी में रखा गया। चौथे स्थान पर आने वाले 'जैबार' कहलाए जो गुण और योग्यता में चौथी श्रेणी में थे। गुण, योग्यता, बौद्धिकता आदि के अनुसार उनका विभाजन ब्राह्मणवर्ग के अंतर्गत हुआ था। यद्यपि यह व्यवस्था आज धीरे-धीरे शिथिल होती जा रही है, तथापि परंपराएँ मिटने वाली नहीं। मिथिला का यह वैशिष्ट्य उसकी अनुपम संस्कृति का परिचायक है और किसी न किसी रूप में अपने को सदा जीवंत बनाए रखने में सक्षम है।

मिथिला की विभूतियाँ

मिथिला में सत्त्वगुणसंपन्न विद्वानों की भी अपनी परंपरा

रही है। आदिशंकराचार्य ने इन विद्वानों को परमात्मा का सच्चिदानंदस्वरूप माना है, ऐसे कतियय विद्वानों का यहाँ परिचय देना उपयुक्त समझता हूँ।

श्री वाचस्पति मिश्र

श्री वाचस्पति मिश्र मिथिला के अत्यंत प्रतिभाशाली विद्वान थे। दर्शनशास्त्र पर उनका अधिकार था। वेदांतदर्शन के शांकर भाष्य की 'भामती' टीका का उनके ग्रंथों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'भामती' टीका का महत्त्व शांकर भाष्य से भी अधिक माना जाता है। जनश्रुति है कि वाचस्पति मिश्र एक विरक्त और सच्चे दार्शनिक विद्वान थे। विवाहित होते हुए भी वे हमेशा गंभीर मनन-चिंतन में मग्न रहकर पारिवारिक मोहजाल से विरक्त रहते थे। दार्शनिक विषयों के गंभीर अध्ययन में लगे रहते थे और इसी कारण सदा गृहस्थ धर्म से वे विमुख रहे। वृद्धावस्था आने तक स्त्री संपर्क से विमुखता के कारण उनके कोई संतान न हुई तो एक दिन उनकी साध्वी पत्नी ने दुखी होकर वंश की रक्षा की ओर उनका ध्यान दिलाया तो उनका उत्तर था- 'संतति होने पर भी तुम्हारा नाम और वंश चलता रहे, इसका क्या भरोसा? मैंने जीवन भर इस विषय में नही सोचा तो, अब क्या सोचूँ। किंतु हाँ' तुम्हारी अमर ख्याति के लिए मैंने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'वेदांत भाष्य' की टीका का नाम तुम्हारे नाम पर 'भामती' टीका रखने का निश्चय किया है। तुम्हारा जातक पुत्र प्रायः एक-दो पीढ़ी तक तुम्हारा नाम चलाता और कुल की प्रसिद्धि करता, परंतु इस 'भामती' टीका से तुम्हारा नाम सदा के लिए अमर रहेगा।

यह वस्तुस्थिति है कि आज श्री वाचस्पति मिश्र के 'वेदांतभाष्य' और उसकी टीका 'भामती' दोनों का नाम संस्कृत

वाङ्मय में सदा–सर्वदा के लिए अमर हो चुका है। संभवतः यह ख्याति उनके असंख्य हजारों पुत्र–पौत्रों से भी नहीं हो पाता। मिथिला की ऐसी विद्वद्विभूति का त्याग, तप और शास्त्रज्ञान से राष्ट्र प्रकाशमान है।

श्री उदयनाचार्य

न्यायशास्त्र के प्रणेताओं में मिथिला के श्री उद्यनाचार्य का नाम अग्रगण्य है। इन्होने बौद्ध–सिद्धांतों के खंडन में अनेक ग्रंथों की रचना की, जिनमे 'न्यायकुसुमांजलि' और 'आत्मतत्त्वविवेक' ये दोनो उच्चकोटि के दर्शनिक ग्रंथ हैं। 'न्यायकुसुमांजलि' में ईश्वरसिद्धि के प्रयास की सफलता हुई है और इस ग्रंथ को बौद्धदार्शनिक श्री कल्याणरक्षित के 'ईश्वर भंगकारिका' नामक ग्रन्थ के उत्तर के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार 'आत्मतत्त्वविवेक' को श्री कल्याणरक्षित के 'अन्यापोहविचारकारिका' तथा 'श्रुतिपरीक्षा' एवं 'धर्मोत्तराचार्य' के उत्तर में 'बौद्धधिक्कार' के रूप में माना गया है।

कहते हैं कि ईश्वर और आत्मा के विषय में उदयंनाचार्य का बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ हुआ करता था। एक दिन बौद्ध दर्शन तथा माया तंत्र में निपुण एक बौद्ध संन्यासी अनेक शिष्यों के साथ मिथिला की राजधानी आया और दूत के माध्यम से मिथिला नरेश के पास अपना संदेश भेजा कि वेद आदि शास्त्रों के प्रति श्रद्धा और विश्वास व्यर्थ है। इन शास्त्रों के अभ्यास से केवल गला सूखता है, फल की प्राप्ति नही होती है। अतः बौद्ध दर्शन का अध्ययन करना चाहिए और उसके अनुसार आचरण करने से ही जीवन की सफलता मानी जाती है। उसी दूत के

द्वारा मिथिलानरेश ने उनको अपना संवाद भेजा कि 'अगले दिन प्रातःकाल उपस्थित होकर राजसभा में अपना पक्ष प्रस्तुत करें, वहीं उनके मत का स्पष्टीकरण हो जाएगा।'

दूत द्वारा संवाद भिजवा देने के बाद मिथिलानरेश ने उदयनाचार्य आदि प्रमुख पंडितों को बुलवाकर बाहर से आए इस बौद्ध संन्यासी से इस शर्त पर शास्त्रार्थ करने को कहा कि जो हारेगा वह विजयी के मत को स्वीकार करेगा। मिथिलानरेश के आदेश पर उदयनाचार्य बौद्ध संन्यासी के साथ शास्त्रार्थ करने को सहमत हो गए।

अगले दिन प्रातः राजसभा में मैथिल विद्वान् एकत्रित हुए। बौद्ध संन्यासी भी उपस्थित हुआ। बौद्ध संन्यासी ने कहा बौद्ध दर्शन के बहिर्भूत विद्वान के साथ हम बौद्ध दर्शनिकों का शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है? इस पर उदयनाचार्य ने बौद्ध सिद्धांतों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर अपने अनुकूल न्यायशास्त्र की दृष्टि से उन सिद्धांतों का खंडन कर दिया। इस तरह शास्त्रार्थ में अनेक दिन बीत गए। बौद्ध संन्यासी मन में तो अपनी पराजय समझ ही रहा था फिर भी राजा से उसने कहा कि मेरे प्रतिपक्षी मेरे शास्त्र के अनुसार नही कह रहे हैं फिर भी मैं अपने मत और शास्त्र की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए आपके आराध्य विष्णुरूपी शालग्राम शिला को अपना सिद्धांत कहकर आप सबके सामने जलमय कर देता हूँ। बाद में बौद्ध मत को स्वीकार कर लें। वेद के प्रामाण्य के समर्थक विद्वान यदि जल रूप में परिणत शालग्राम शिला को अपना सिद्धांत कहकर पूर्ववत् शिलामय बना देंगे तो मैं इनकी मान्यता स्वीकार कर लूँगा।

आचार्य उद्‌यन का कथन था- "ये माया में चतुर हैं, अपनी माया की महिमा से हमें परास्त करना चाहते हैं। हम भी माया तंत्र जानते हैं, इनकी शर्त हमें स्वीकार्य है।" बौद्‌ध सन्यासी ने शिलामय शालग्राम को जल में परिणत कर दिया फिर आचार्य उद्‌यन ने जलमय शालग्राम को शिला में परिवर्तित कर दिया। इस अपूर्व घटना से सभा के अन्य सदस्य विस्मित और आनंदित हो गए। उदयनाचार्य की प्रशंसा होने लगी।

अनुकूल अवसर जानकर उदयनाचार्य ने सभा को संबोधित करते हुए कहा कि आप द्‌वारा जो मेरी प्रशंसा हो रही है- वह मुझे समुचित नहीं प्रतीत होती। मेरे प्रतिपक्षी ने शालग्राम शिला को जलमय किया और मैने पुनः उसे शिलारूप में स्थापित किया। इसमें तो हम दोनों का मत बराबर पर ही स्थिर रहा। मैं राजा के समक्ष एक प्रस्ताव रखता हुँ कि राजद्‌वार पर स्थित विशाल ताड़ के वृक्ष पर चढ़कर मैं वेद प्रमाण हैं कहकर नीचे गिरूंगा और मेरे प्रतिपक्षी 'वेद प्रमाण नही है' - "कहकर नीचे गिरेंगे। इसमें जीवित रहने वाले के मत का अनुगमन आप सब करेंगे। उसी मत को समीचीन माना जाएगा"। इस प्रस्ताव से बौद्‌ध संन्यासी तो प्रसन्न हो गया, किंतु इस परीक्षा में प्राण का संकट देखकर राजा असमंजस में पड़ गए। तब पक्ष और प्रतिपक्ष के दोनों ओर के विद्‌वानों ने कहा कि इस शर्त में राजा का कोई दोष नही होगा क्योंकि शर्त में दोनों की स्वेच्छा से ऐकमत्य है।

दोनों पक्षों में सहमति हुई। दोनों ही नियमानुसार ताड़ वृक्ष पर चढ़कर नीचे गिरे। शिर के बल गिरने से बौद्‌ध संन्यासी का प्राणांत हो गया और उदयनाचार्य को खरोंच तक नही लगी। दर्शकों में वेद पर श्रद्‌धा और भक्ति बढ़ने लगी। राजसभा एवं

राजा द्वारा उदयनाचार्य का सम्मान, अभिनंदन हुआ। उदयनाचार्य पूर्ववत् घर आकर शास्त्रों का अध्ययन, मनन-चिंतन करने लगे।

उसके बाद एक बार उदयनाचार्य भगवान जगन्नाथ के दर्शन हेतु पुरी धाम गए। मंदिर प्रांगण में प्रवेश करते ही उन्हें नरहत्या का पापी समझकर मंदिर के खुले दरवाजे बंद होने लगे। यह देखते ही आचार्य उदयन के मन में क्रोध भाव जागृत हो गया। उन्होने अपना अपमान समझकर भगवान् जगन्नाथ से कहा

"ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय तिष्ठसि।
समायाते पुनर्बौद्धे मदधीना तव स्थितिः।"

(हे भगवान्, आप ऐश्वर्य के मद में मत्त होकर आज मेरा अपमान कर रहे हैं, लेकिन जिस समय बौद्ध आपका खंडन करने आएंगे, उस समय आपकी स्थिति मेरे द्वारा ही होगी)।

उसी समय लोगो के देखते ही देखते मंदिर के सभी दरवाजे खुल गए। उदचनाचार्य भगवान जगन्नाथ का दर्शनकर कृतार्थ हुए और कुछ दिनों तक भगवान् की पूजा-अर्चना करते रहे,। इस बीच भगवान् जगन्नाथ ने प्रधान पुजारी को स्वप्न दिया कि "उदयनाचार्य भगवान जगन्नाथ के अंशावतार हैं। उन्होंने कुतार्किक बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित कर मेरा अस्तित्व समर्थित किया है। उनको मेरा परिधान पीतांबर देकर सत्कृत करो। भगवान् के आदेश का तत्काल पालन किया गया। आचार्य उदयन ने भी भगवान् का प्रसाद पाकर अपने को अत्यंत सौभाग्यशाली माना।

कहते हैं- उदयनाचार्य ने वार्धक्य में नरहत्या का प्रायश्चित्त करने के लिए अपने को आग में जलाकर इहलीला समाप्त की।

श्री अयाची मिश्र

मिथिला में अयाची मिश्र के नाम से प्रसिद्ध श्री भवनाथ मिश्र प्रख्यात नैयायिक विद्वान थे। वे विद्यार्थियों को अपने आवास पर रखकर पढ़ाते थे पर किसी से कभी कोई वस्तु नही ग्रहण करते थे। उनकी छोटी सी गृहवाटिका में जो कुछ साग-पात , बेल, फल आदि अनायास उपजता था उन्ही से उनका जीवन यापन होता था। उनकी यह अपरिग्रहवृत्ति इतनी बढ़ गई कि लोग उन्हें 'अयाची मिश्र' कहने लगे। कहते हैं उनकी त्याग-तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ही उनके यहाँ अंशतः पुत्र रूप में उत्पन्न हुए, जिनका नाम **'शंकर मिश्र'** था।

दैवी प्रतिभा से संपन्न बालक शंकर मिश्र क्रमशः बढ़ने लगे। अपूर्ण पाँच वर्ष की अवस्था में एक दिन बालक शंकर अपने समवयस्क बालकों के साथ खेल रहे थे। उस समय मिथिलानरेश शिवसिंह की सवारी उसी मार्ग से कहीं जा रही थी। महाराज की दृष्टि प्रतिभाशाली बालक शंकर पर पड़ी। उन्होने बालक शंकर को बुलाकर परिचय पूछा। परिचय-प्राप्ति के बाद महाराज ने बालक शंकर से पूछा यदि तुम कुछ पढ़ते हो तो एक श्लोक सुनाओ। शंकर ने पूछा "अपना बनाया हुआ श्लोक सुनाऊँ या दूसरे का।" महाराज ने कहा अभी तो तुम बालक हो इसलिए दूसरे का बनाया हुआ ही सुनाओ। उत्तर में बालक शंकर ने कहा-

"बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती।
अपूर्णे पंचमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम्।।"

(राजन् मैं बालक हूँ, पर मेरी सरस्वती बाला नही है। मेरा पाँचवाँ वर्ष पूरा नही हुआ है, फिर भी मैं तीनों जगत् का वर्णन

कर सकता हूँ।)

इस पर महाराज ने आज्ञा दी "एक ऐसा स्वरचित श्लोक पढ़ो जिसका आधा चरण लौकिक संस्कृत में। इस पर शंकर मिश्र ने तत्काल पढ़ा-

"चलितश्चकितश्छन्नः प्रयाणे तव भूपते।
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।।"

(महाराज, आपकी युद्ध यात्रा में विशाल सेना के भार से हजार सिर वाले शेषनाग चलायमान हो जाते हैं, हजार आँखों वाले इन्द्र भयभीत हो जाते हैं और हजार किरणों वाले सूर्य धूल से ढँक जाते हैं। (इस श्लोक में ऊपर वाला आधा चरण लौकिक संस्कृत का और नीचे वाला आधा चरण पुरुषसूक्त (वेद) का है।)

यह सुनकर महाराज बहुत प्रसन्न हुए और शंकर मिश्र ने मिथिला का यश दिग्-दिवंगत में फैलाया।

श्री शंकरमिश्र

महामहोपाध्याय भवनाथ मिश्र (अयाची मिश्र) के पुत्र शंकर मिश्र मिथिला के सरिसव ग्राम के वासी थे। उनका शांडिल्य गोत्र था। साहित्य और अलंकारशास्त्र मे उनकी विलक्षण प्रतिभा थी। न्यायदर्शन के वे प्रकांड पंडित थे।

म०म० शंकर मिश्र का 'गौरीदिगंबर प्रहसन' नामक प्रमुख नाटक था। इसके अतिरिक्त 'मनोभवपराभव' तथा 'कृष्णविनोद' भी इनके द्वारा रचित हैं। 'गौरीदिगंवर प्रहसन' नाटक में कवि ने शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन बडे ही रोचक ढंग से किया है। इसमें ब्रह्मा और मैनाक का एक सा चरित है। एक ओर जहाँ मैनाक शंकर की वेश-भूषा पर क्षुब्ध होकर अपनी बहन को

कुमारी रखने का विचार करते हैं तो दूसरी ओर ब्रह्मा कन्यादान के समय शंकर के व्यवहार से क्रुद्ध होकर पद्धति भी फेक देते हैं। दूसरी ओर पार्वती की सहेली को प्राप्त करने के लिए भूत-प्रेत में जो विवाद होता है वह भी बड़ा रोचक है।

श्री वररुचि

म०म० वररुचि दीर्घोदय (दिघवय) मूल (वंश) के मिथिला के विद्वान् थे। इन्हें 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक के प्रणेता सुबन्धु का मामा कहते हैं। कुछ विद्वानों के मत से ये याज्ञवल्क्य के पौत्र और कात्यायन के पुत्र थे। इसीलिए उनका पूरा नाम 'वररुचि कात्यायन' था। इनके निम्नलिखित श्लोक की चर्चा मिथिला में सर्वत्र सुनाई पड़ती है।

"दिवा निरीक्ष्य वक्तव्यं रात्रौ नैव नैव च च।
सर्वत्र संचरेद्धूर्तो वटे वररुचिर्यथा।।"

आचार्य वररुचि की रचनाओं में अष्टाध्यायी वार्त्तिक, लिंगवृत्ति, प्राकृतप्रकाश, निरुक्तसमुच्चय, पुष्पसूत्र, वररुचिसंग्रह, स्वर्गारोहण काव्य, उभयाभिसारिका आदि प्रसिद्ध हैं।

श्री मुरारिमिश्र

ये मिथिला के प्रसिद्ध माहिष्मती (सहर्षा जिले के महिषी गाँव) के निवासी थे। ये मौद्गल्यगोत्रीय वर्द्धमान और तंतुमती के पुत्र थे। इन्होने भवभूति के पदविन्यास और गौड़ीय शैली के निर्बंध को आदर भाव से अपनाया है। ये साहित्यिक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक थे। मीमांसा दर्शन में इनकी एक शाखा भी प्रचलित है। जिसमें कुमारिल और प्रभाकर से कहीं-कहीं मतभेद भी दिखाई पड़ता है।

नाट्यविद्या में 'अनर्घराघव' उनका उच्चकोटि का नाटक है, जो रामायण पर आधारित सात अंको का नाटक है।

श्री गोकुलनाथ उपाध्याय

ये मिथिला के प्रसिद्घ 'मंगरौनी' ग्राम के पन्नावार मूलक वत्सगोत्रीय पं० पीतांबर झा और उमादेवी के पुत्र थे। वे मिथिलेश राजा राघवसिंह के समकालीन थे। मूलतः दार्शनिक होने के साथ-साथ साहित्यिक रचनाओं में भी, वह विशेषता आ गई। इनके दो मुख्यनाटक है- अमृतोदय, मुक्तिमदालस।

श्री हरिहरउपाध्याय

मिथिला के मधुबनी जिला के 'बिट्ठो' ग्राम के निवासी हरिहरउपाध्याय कुशल नाटककार थे। उन्होने 'भर्तृहरिनिर्वेद' और 'प्रभावती परिणय' इन दो नाटकों की रचना की। ये म०म० राघव उपाध्याय के पुत्र थे, इनकी माता का नाम लक्ष्मीदेवी था। श्री नीलकंठ इनके अनुज थे। हरिहर उपाध्याय की दो अन्य रचनाएँ भी प्रसिद्ध हैं- 'सूक्तिमुक्तावली' और 'मुक्तावली व्याख्या'।

'भर्तृहरि निर्वेद' नाटक के माध्यम से लेखक ने दर्शनशास्त्र के दुरूह तत्त्वों को रोचकशैली में वर्णन किया है।

इसी प्रकार हरिवंशपुराण पर आधारित 'प्रभावती परिणय' में श्री कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और वज्रनाभ की कन्या प्रभावती के प्रेमपूर्ण परिणय का वर्णन है।

श्री बासा कवि बाण

ये दरभंगा जिला के भंडारिसम ग्राम के निवासी थे। इनके द्वारा स्थापित 'बाणेश्वरी भगवती' आज भी गॉव में प्रतिष्ठित

हैं। कहते हैं कि यवन आक्रमण से भयभीत इनकी एकमात्र कन्या जब इनके पास गिरी तो वस्तुस्थिति को देखकर इन्होने एक चुल्लू पानी लेकर अपनी पुत्री के ऊपर मंत्रोच्चारण सहित छिड़क दिया। जिससे उनकी बेटी यवन के हाथ पड़ने से बच गई, परंतु वह प्रस्तर मूर्ति बन गई। वही मूर्ति आज वांणेश्वरी के रूप में गाँव में प्रतिष्ठित है। वासाकवि योगी थे तथा उनका आश्रम 'वाणाश्रम' नाम से प्रसिद्ध था। आज उसे लोग 'भंडारिसम' नाम से जानते हैं।

मिथिला के शासक राजवंश

जैन और बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है कि परवर्ती विदेह अथवा जनकवंशी राजाओं ने अपने राज्य की चिंता करनी छोड़ दी और ज्ञानमार्ग का अनुसरण कर संन्यासी हो गए। फलस्वरूप विदेह राजतंत्र का पतन शुरू हो गया। ऐसी उक्ति भी है कि जनकवंश का अंतिम राजा चरित्र भ्रष्ट होने के कारण विद्वानों और जनता द्वारा राजपद से च्युत कर दिया गया और उसके बाद सैकड़ो वर्षों तक मिथिला शासकविहीन रही। राजा के बजाय गणतंत्र प्रणाली से शासक का चयन जनता द्वारा होता रहा और सामूहिक रूप से निर्णय लिए जाते रहे। वस्तुतः इस तथ्य से मिथिला को विश्व का प्रथम गणतंत्र माना जा सकता है। कालक्रमानुसार मिथिला का शासन वज्जीगणतंत्र के संयुक्त संघटन के अंतर्गत होने लगा। वज्जीगणतंत्र का शासनकाल ६०० ई.पू. से ३२५ ई. तक माना जाता है। यह काल बौद्ध-धर्म का उत्कर्ष काल था।

बौद्ध धर्म की प्रबलता से वैदिक संस्कृति दब तो अवश्य

गई तथापि मिथिला बौद्ध धर्म के महासमुद्र में ब्राह्मण धर्म का एक छोटी टापू बनी रही। मिथिला में भी बौद्ध धर्म का बहुत प्रसार हुआ किंतु ब्राह्मण धर्म और संस्कृति यहाँ कभी लुप्त नहीं हुई। उच्च वर्गीय सामाजिक संरचना कभी भंग नहीं हुई, भले ही उसके विकास की गति अंतर्मुखी हो गई थी।

वज्जीसंघ अनेक बार एकताबद्ध हो, शौर्य का प्रदर्शन करता रहा और अंत में अजातशत्रु से पराजित हो, परतंत्र हो गया। तब से मिथिला का इतिहास पराजय और परतंत्रता का इतिहास रहा। इसी क्रम में मिथिला के शासक वंशों और राजाओं का अत्यंत संक्षिप्त विवरण भी यहाँ प्रस्तुत है।

पालवंश (छठी सदी से आठवीं सदी तक)

मगध और गुप्त राजवंश और फिर हर्षवर्द्धन आदि राजाओं ने मिथिला में समय-समय पर शासन किया और जनक राजवंश के बाद ५वीं-६ठी सदी तक कोई महत्वपूर्ण शासक नहीं रहा। ७वीं सदी में जब जयवर्द्धन राजा सल्हेश शासक हुआ तो उसने अपनी राजधानी 'महिसौथ सिरहा' (वर्तमान नेपाल) में बनाई। उसने तिब्बती आक्रमणों से अनेक बार अपने राज्य की रक्षा की। इसलिए उसे जयवर्द्धन से शैलेश (पर्वतों का राजा) कहा जाने लगा जिसे लोकभाषा में 'सल्हेश' कहा जाता था।

सेनवंश (नौवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक)

आठवीं सदी के अंतिम चरण में मिथिला में बंगाल के पालवंश का आधिपत्य स्थापित हुआ। पालवंश का शासन मिथिला में तीन शताब्दियों तक चलता रहा। पालवंश के राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। पालवंश का अंतिम राजा मदनपाल कमजोर शासक था। अतः उसे आदिशूर सामंतसेन की सेना ने पराजित कर दिया।

सेनवंश शासक हिंदू धर्म के अनुयायी थे, इसलिए मिथिला के लोगों ने मदनपाल को परास्त करने में सामंतसेन की सहायता की। सेन वंश का शासन मिथिला में ग्यारहवीं सदी तक रहा। मधुबनी जिलान्तर्गत ठाढ़ी ग्राम के प्रख्यात विद्वान वाचस्पति मिश्र सेन राजवंश के शासनकाल में ही हुए। सेन वंश के पाँच राजाओं ने ग्यारहवीं सदी तक मिथिला में शासन किया, जिनके नाम हैं–सामंतसेन, हेमंतसेन, विजयसेन, वल्लालसेन और लक्ष्मण सेन।

कर्णाटवंश (ग्यारहवीं सदी से चौदहवीं सदी तक)

सेनवंश के अंतिम राजा लक्ष्मणसेन को पराजित कर नान्यदेव बंगाल के शासक हुए। उस समय बिहार, बंगाल का ही एक भाग था। अतः नान्यदेव का शासन मिथिला पर १०९७ ई. में हुआ। कर्णाटवंशीय राजा नान्यदेव पश्चिम से आए थे अतः उन्होंने अपनी पहली राजधानी सिमरौन गढ़ (वीरगंज) में स्थापित की। कर्णाटवंशीय राज्यकाल में मिथिला में पुनः वैदिक ब्राह्मण-संस्कृति का उत्कर्ष हुआ और बौद्ध धर्म का बचा-खुचा प्रभाव लुप्त हो गया।

कर्णाटवंश के राजाओं में नान्यदेव, गांगदेव, नरसिंहदेव,

शक्रसिंहदेव और हरिसिंहदेव थे। इन राजाओं में हरिसिंह देव प्रसिद्ध राजा हुए, जिन्होंने मैथिल ब्राह्मणों और मैथिल कर्णकायस्थों के लिए 'पंजी प्रबंध' व्यवस्था को चलाया। हरिसिंहदेव की राजधानी कमलदालान (कमलादित्यस्थान) वर्तमान 'अंधरा ठाढ़ी' गाँव में थी। वे कला, साहित्य के बहुत बड़े प्रशंसक और संरक्षक थे। हरिसिंह देव के दरबार में 'वर्णरत्नाकर' के रचयिता प्रसिद्ध विद्वान् पंडित कामेश्वर ठाकुर थे। 'वर्णरत्नाकर' उत्तर भारत की किसी भाषा में पहली प्रसिद्ध गद्यरचना मानी जाती है। पंडित कामेश्वर ठाकुर बाद में मिथिला में ओइनवार वंश के शासन के प्रवर्तक बने।

ओइनवार वंश (१३२६ ई. से १५२६)

कर्णाट राज्यवंश के पतन के पश्चात् दिल्ली की केंद्रीय सत्ता इस्लामी शासक के अधीन आई और कर्णाटवंश के अंतिम शासक हरिसिंहदेव का पलायन नेपाल को हो गया। इस बीच मिथिला राज्य में २७ वर्षों तक अराजकता बनी रही। १३५३ ई. में मुगलशासक फिरोजशाह तुगलक ने मिथिला के करदाता राजा के रूप में पंडित कामेश्वरठाकुर को नियुक्त किया। जब अकबर दिल्ली का सम्राट बना तो उसने मिथिला राज्य में सामान्य स्थिति कायम करने का प्रयास किया। उसकी धारणा थी कि मैथिल ब्राह्मण के शासक होने पर ही मिथिला में शांति स्थापित की जा सकती है और तभी यहाँ से करसंग्रह भी सरलता से किया जा सकता है। सन् १५५७ ई. में सम्राट अकबर ने पंडित महेश ठाकुर को मिथिला का शासक घोषित किया। पंडित महेश ठाकुर का मूल 'खरोड़ेभौर' था, इसीलिए उनका वंश 'खंडबलाकुल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। खंडबला कुल-शासन की राजधानी

सरिसव–पाही और राजग्राम के उत्तरपश्चिम में बनाई गई।

खंडबला वंश (सन् १५७७ से १९४७ ई. तक)

मिथिला में सन् १५७७ ई. से १९४७ ई. तक (३७० वर्ष) खंडबला वंश के बीस ब्राह्मण शासकों ने राज्य किया। इन शासकों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है–

१. म.म.राजा महेशठाकुर – (१५५७ ई.) वे १५५८ में दिवंगत हुए)

महामहोपाध्याय महेशठाकुर अपने समय के पूर्व भारत के संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। वे मध्यप्रदेश के खंडवा से आए थे। उन्होंने संस्कृत में अकबरनामा की रचना की, जिससे प्रसन्न होकर सम्राट अकबर ने उन्हें "सरकार तिरहुत" (मिथिला) का राज्य प्रदान किया।

२. राजा गोपालठाकुर –(१५६८ ई.) वे राजा महेश ठाकुर के ज्येष्ठ पुत्र थे और उन्होंने अल्प अवधि के लिए मिथिला पर शासन किया।

३. राजा परमानंदठाकुर – (१५७३ ई.) वे राजा महेश ठाकुर के द्वितीय पुत्र थे अपनी मृत्यु से पहले थोड़े समय के लिए मिथिला के शासक बने।

४. राजा शुभंकरठाकुर – (१५८३ ई. मृत्यु १६०७ ई. में) वे राजा महेश ठाकुर के पाँचवें पुत्र थे और थोड़े समय के लिए मिथिला के शासक बने।

५. राजा पुरुषोत्तमठाकुर– उन्होंने (१६०७ ई. से १६२३ ई.) तक शासन किया। वे शुभंकर ठाकुर के पुत्र थे और १६२३ ई. में मारे गए।

६. राजा नारायणठाकुर – इन्होंने (१६२३ ई. से १६४२ ई. तक लगभग १९ वर्षों तक शासन किया)

७. राजा सुंदरठाकुर – इन्होंने (१६४२ ई. से १६६२ ई. तक लगभग २० वर्षों तक राज्य किया और १६६२ ई. में उनकी मृत्यु हो गई।

८. राजा महिनाथठाकुर– इन्होंने (१६६२ ई. से १६८४ ई.) तक लगभग २२ वर्षों तक राज्य किया और १६८४ ई. में उनकी मृत्यु हो गई।

९. राजा नरपति ठाकुर– इन्होंने (१६८४ ई. से १७०० ई. तक लगभग १६ वर्षों तक राज्य करने के बाद उनकी मृत्यु हो गई)।

१०. राजा राघवसिंह– इन्होंने सन् १७०० ई. से १७३६ ई. तक मिथिला राज्य पर शासन किया। ये अपने समय के सर्वाधिक करदाता के रूप में धनी शासक के रूप में जाने जाते थे। उन्होंने दरभंगा और मुजफ्फरपुर सहित पूरे सरकार तिरहुत का एक लाख रु. वार्षिक किराये का अधिकार प्राप्त कर लिया। यह राशि उस समय की सर्वाधिक राशि थी। सरकार तिरहुत का १६८५ ई. में वार्षिक मालगुजारी ७,६९,२८७ रु. दी जाती थी। एक बार राजा राघवसिंह की संपत्ति और ऐश्वर्य को देखकर बिहार के नवाब सूबेदार नवाब महावत सिंह ने राजा राघवसिंह के परिवार को पटना में कैद कर दिया। राजा राघवसिंह बच निकले और बाद में अपना राज्य वापस पाने में सफल हो गए। साथ में मुगल गवर्नर से उन्हें बड़ा अनुदान भी इस शर्त पर मिला कि वे न्यायपूर्वक शासन करेंगे, जनता का कष्ट दूर करेंगे और राज्य को प्रगतिशील स्थिति में रखेंगे। राजा राघवसिंह ने इन शर्तों को पूरा किया और

आगे के महाराजाओं ने भी इन शर्तों को पूरा किया। मधुबनी के पास भौर में राजा राघवसिंह ने एक मिट्टी का किला बनवाया।

११. **राजा विष्णुसिंह**– इन्होंने १७३६ ई. से १७४० ई. तक लगभग ४ वर्ष शासन किया। सन् १७४० ई. में उनका देहावसान हो गया।

१२. **राजा नरेन्द्रसिंह**– वे (१७४० ई. से १७६० ई. तक लगभग बीस वर्षों तक शासन करके १७६० ई. में दिवंगत हुए। उनके कोई संतान नहीं थीं। उन्होंने राजा नारायणठाकुर के प्रपौत्र राजा प्रताप सिंह को अपने उत्तराधिकारी के रूप में गोद ले लिया। राजा प्रताप सिंह राजा शुभंकरठाकुर के पुत्र और राजा सुंदरठाकुर के छोटे भाई थे।

१३. **राजा प्रतापसिंह**– इन्होंने (१७६० ई. से १७७६ ई. तक) १६ वर्ष शासन किया, और १७७६ ई. में उनकी मृत्यु हो गई। राजा प्रतापसिंह ने 'भौर' से हटाकर अपनी राजधानी दरभंगा में बनाई।

१४. **राजा माधवसिंह**– इन्होंने (१७७६ ई. से १८०८ ई. तक मिथिला में शासन किया) वे राजा प्रतापसिंह के छोटे भाई थे और उनकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी बने थे। सन् १७७६ ई. में राजा माधवसिंह ने दिल्ली सम्राट शाहआलम से पूर्णिया जिले में धरमपुर की रियासत हासिल की। राजा माधवसिंह का ब्रिटिश सरकार से जमींदारी पर अपनी स्वायत्तता और मालगुजारी देने के संबंध में संघर्ष चलता रहा।

१५. **महाराजा छत्रसिंह बहादुर**– उन्होंने (सन् १८०८ ई. से १८३९ ई. तक ३१ वर्ष शासन किया और १८३९ में उनकी

मृत्यु हो गई। वे राजा माधवसिंह के द्वितीय पुत्र थे। वे परिवार में पहले व्यक्ति थे जिन्हें महाराजा बहादुर की उपाधि मिली थी। महाराज छत्रसिंह ने सन् १८३९ ई. में अपनी वृद्धावस्था के कारण अपना राज और अपनी उपाधि ज्येष्ठ पुत्र महाराजा रुद्रसिंह को सौंप दिया। अपने पुत्र के राज्याभिषेक के कुछ दिनों बाद ही उनकी मृत्यु हो गई।

१६. महाराजा रुद्रसिंह बहादुर– इन्होंने (सन् १८३९ ई. से १८५० ई. तक शासन किया) महाराजा छत्रसिंह बहादुर की मृत्यु के बाद महाराजा रुद्रसिंह बहादुर के छोटे भाई राज्य हासिल करने के लिए कानूनी अधिकार की लड़ाई लड़ते रहे। अंततः कलकत्ता हाईकोर्ट ने निर्णय दिया कि इस मामले में सामान्य हिन्दू उत्तराधिकार कानून लागू नहीं किया जा सकता और राजदरभंगा परिवार के कुलाचार की आनुवंशिक परिपाटी का अनुसरण किया जाएगा। तदनुसार महाराजा रुद्रसिंह बहादुर ही महाराजा छत्रसिंह बहादुर के ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते दरभंगा के महाराजा घोषित किए गए। इस निर्णय ने स्थायी रूप से उत्तराधिकार के मामले का समाधान कर दिया और इसी निर्णय पर आगे भी उत्तराधिकार के मामलों का निर्धारण होता रहा।

१७. महाराजा महेश्वरसिंह बहादुर – (सन् १८५० ई. से १८६० ई. तक शासन किया) उन्होंने दस वर्ष तक मिथिला पर शासन किया। वे अपने पीछे दो पुत्रों, लक्ष्मीश्वर सिंह और रामेश्वर सिंह, को छोड़कर, अक्तूबर १८६० ई. में दिवंगत हो गए। उनके दोनों पुत्रों, क्रमशः एक के बाद एक, ने मिथिला राज्य का शासन किया।

१८. महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह बहादुर – इन्होंने (सन् १८६० ई. से १८९८ ई. तक) ३८ वर्ष तक राज्य किया। इनका २५ सितंबर १८५८ को जन्म और १७ दिसंबर, १८९८ ई. में मृत्यु हुई। महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह एक लोकहितैषी के रूप में जाने जाते थे। उनकी प्रतिमा कोलकाता के डलहौजी स्क्वेयर में सन् १९०४ ई. में उनकी स्मरणांजलि के रूप में स्थापित की गई। वे अपने पिता की मृत्यु के समय नाबालिग थे। अतः राज दरभंगा 'कोर्ट ऑफ वार्ड' के नियंत्रणाधीन था। वे दरभंगा के पहले महाराजा थे जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली से शिक्षा ग्रहण की। उन्हें ब्रिटिश शिक्षक श्री चेस्टर मैकनाटन ने पढ़ाया। वयस्क होने पर महाराजा लक्ष्मीश्वरसिंह बहादुर ने राज दरभंगा का शासन सँभाला। वे जनकल्याणकारी कार्यों में संलग्न रहे और तत्कालीन भारत के प्रतिष्ठित लोकोपकारी उदार व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध थे। उन्होंने राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के रक्षार्थ इलाहाबाद में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन हेतु रातोंरात (आज दरभंगा कैसल नाम से प्रसिद्ध कैंपस) खरीदकर समर्पित किया।

१९. महाराजाधिराज रामेश्वरसिंह बहादुर – ने सन् १८९८ ई. से १९२९ ई. तक शासन किया। उनका जन्म १६ जनवरी १८६० ई. को और मृत्यु ३ जुलाई १९२९ ई. में हुई। वे अपने ज्येष्ठ भ्राता महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह बहादुर की मृत्यु के बाद दरभंगा राज के महाराजा बने। चूँकि महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह बहादुर निःसंतान थे अतः उन्हें राज्याधिकार मिला। वे १९७८ ई. में भारतीय सिविल सेवाधीन दरभंगा, छपरा और भागलपुर में असिस्टेंट मजिस्ट्रेट के रूप में नियुक्त हुए। सिविल कोर्ट में उपस्थिति से उन्हें छूट प्रदान की गई। १८८५ ई. में उन्हें बंगाल के

विधान परिषद् का सदस्य नियुक्त किया गया। वे १८९९ ई. और १९०४ ई. में भारत के गवर्नर जनरल परिषद के सदस्य, बिहार लैंड लार्ड्स एसोसिएशन के अध्यक्ष, आल इंडिया लैंडलार्डस एसोसिएशन के प्रेसीडेंट, भारत धर्म महामंडल के अध्यक्ष, काउंसिल ऑफ स्टेट के सदस्य, विक्टोरिया मेमोरियल, कलकत्ता के ट्रस्टी, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय सोसाइटी के प्रेसीडेंट और बिहार, उड़ीसा एक्जीक्यूटिव कमेटी के सदस्य थे। सन् १९०० ई. में उन्हें "कैसरे-हिंद" मेडल प्रदान किया गया। भारतीय पुलिस आयोग के वे एकमात्र ऐसे सदस्य थे जिन्होंने आयोग के रिपोर्ट पर असहमति जताई कि भारतीय पुलिससेवा में भर्ती एकल परीक्षा से होनी चाहिए। यह परीक्षा भारत और ब्रिटेन में एक साथ होनी चाहिए। उनके सुझाव के अनुसार यह भर्ती रंग और राष्ट्रीयता के भेदभाव के बगैर होनी चाहिए थी। इंडियन पुलिस कमीशन ने उनका यह सुझाव अस्वीकार कर दिया।

२०. महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह बहादुर –(सन् १९२९ ई. से १९४७ ई. तक शासन किया) १५ अगस्त १९४७ ई. को भारत के सभी राज्य भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति पर भारतीय गणराज्य में विलीन हो गए। महाराजाधिराज कामेश्वरसिंह का जन्म २८ नवंबर १९०७ को और मृत्यु ८ नवंबर १९६२ को हुई।

वे काउंसिल ऑफ स्टेट के (सन् १९३३ से १९४१ ई. तक) सदस्य कंस्टीट्यूएंट असेंबली के (१९४७-१९५२ तक) सदस्य, राज्यसभा के सांसद (सन् १९५२ से १९५८ ई. तथा सन् १९६० से १९६२ तक) रहे। वे भारत के प्रथम व्यक्ति थे जिन्हें विंस्टन चर्चिल के भतीजे प्रख्यात कलाकार क्लेयर शेरीडान के द्वारा निर्मित महात्मा गाँधी की ऊर्ध्वकाय प्रतिमा प्रदान की गई।

यह ऊर्ध्वकाय मूर्ति तत्कालीन भारत के वायसराय लिनलिथगो को गवर्नमेंट हाउस (वर्तमान राष्ट्रपतिभवन) में रखने के लिए प्रदान की गई। यह बात महात्मा गाँधी ने सन् १९४० ई. में लार्ड लिनलिथगो को लिखे एक पत्र में स्वीकार की थी।

भले ही मिथिला राज्य में समय-समय पर शासक वर्ग और शासन प्रणाली बदलती रही, किंतु एक तथ्य तो हमेशा उभरकर आता है कि मिथिला ने अपनी संस्कृति, सभ्यता और मनीषा को कभी उपेक्षित नहीं होने दिया। विपरीत परिस्थितियों में भी इसने अपनी अन्त:सलिला ज्ञानधारा और संस्कृतिधारा को सुरक्षित बनाए रखा। विदेह और जनक की यह भूमि आज भी लोकमंगल की कामना से संस्कृति की पताका लिए दिग्दिगंत में प्रतिष्ठित बनी हुई है।

यहाँ यह भी उल्लेख है कि मिथिला के खंडबलाकुल के राजाओं ने (म.म. महेश ठाकुर से लेकर आगे तक) अपनी सेनाएँ रखीं और समय-समय पर युद्ध भी किया। वे केवल विद्याव्यसनी कलाभिज्ञ या साहित्य प्रेमी ही नहीं थे। युद्धक्षेत्र में साहसपूर्ण वीरता प्रदर्शन के लिए भी वे यशोभागी बने। उनकी वीरगाथाएँ तिरहुत में मिथिला के काव्यों में प्रसिद्ध हैं। महाराजा राघवसिंह और महाराजा नरेंद्र सिंह इस राजवंश के ओजस्वी योद्धा थे। जिन्होंने नेपाल के शासक नवाब अली वर्दी खान और भूपसिंह से युद्ध किया।

शासक मोहम्मदशाह ने उत्तरपश्चिम सीमांत के शासकों के विरुद्ध लड़ने में महाराजा नरेंद्रसिंह से सहायता माँगी। महाराजा छत्रसिंह ने भी नेपाल युद्ध के समय ब्रिटिश सरकार को महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। फलस्वरूप तत्कालीन गवर्नर जनरल ने प्रसन्न

होकर उन्हें 'महाराजा' की उपाधि दी जिसे प्राचीन मिथिला के शासक व्यक्तिगत उपाधि के रूप में प्रयोग करते आ रहे थे। महाराजा की उपाधि का प्रयोग कुल के अन्य शासक आगे भी करते रहे और यह क्रम सन् १९२० ई. तक चला जब आनुवांशिक 'महाराजाधिराज' की उपाधि महाराज श्री रामेश्वरसिंह को प्रदान की गई।

मिथिला के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्वतः स्पष्ट है कि ऋषिमुनियों की तपः पूत पौराणिक मिथिला, ज्ञानी, वीर, यशस्वी शासकों की वीर वसुंधरा आज भी अपनी संस्कृति, ज्ञान का उद्घोष कर रही है। इसकी अक्षुण्ण परंपाएँ, प्राचीन स्मारक, तीर्थ धर्मस्थल, प्रासाद के अवशेष, सिद्धपीठ जैसे लोगों को अपनी ओर बुला रहे हैं–और लगता है जैसे इसकी महिमा घटी नहीं–बढ़ती ही रहेगी।

द्वितीय परिच्छेद

मैथिली भाषा और साहित्य

मैथिली भाषा

मिथिला का सर्वांगीण संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के बाद मिथिला की लोकभाषा का परिचय प्राप्त करना प्रासंगिक होगा। मिथिला की लोकभाषा के लिए 'मैथिली' शब्द का प्रयोग नवीन है। सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग कोलब्रुक महोदय ने १८०१ ई. में किया, और इस नाम को मैथिली भाषा साहित्य के उन्नायक भाषा वैज्ञानिक जार्ज ग्रियर्सन महोदय ने प्रसिद्‌ध किया। इससे पूर्व १७८१ ई. में मैथिली भाषा के लिए 'तिरहुतिया' शब्द का प्रयोग "Alpha betum Brammhanicum" में हुआ था, जो रोमनलिपि में 'Tourutiana' (तौरुतिआना) लिखा गया था। किंतु भाषा के लिए 'तिरहुतिया' शब्द का प्रयोग 'तिरहुत' क्षेत्र में रहने वाले लोगों के अर्थ में निश्चित रूप से भ्रामक था, अथवा 'तिरहुता' शब्द का अर्थ भी 'मिथिलाक्षर' होता है। अतः ये दोनों शब्द 'मैथिली' भाषा के लिए असंगत माने गए।

संप्रति भाषा के लिए 'मैथिली' शब्द का प्रयोग व्यापक हो गया है। यद्‌यपि प्रारंभ में कवीश्वर चन्दा झा एवं महामहोपाध्याय मुकुन्द झा वख्शी के क्रमशः मैथिली रामायण के लिए 'मिथिला-भाषा रामायण' एवं 'मिथिलाभाषामय इतिहास' में मिथिला भाषा का प्रयोग हुआ है। 'मैथिली' नाम को १८८० ई. में सर जार्ज

ग्रियर्सन ने स्थिरता प्रदान की।

कविकोकिल विद्यापति ने जिस भाषा में अपनी पदावली की रचना की, उस भाषा को लोचन कवि ने 'मिथिलापभ्रंश भाषा' कहा था। उच्चारण की सुविधा के लिए बीच का 'अपभ्रंश' हटाकर 'मिथिला भाषा' यह संक्षिप्त रूप दे दिया गया। परंतु स्वयं कविकोकिल विद्यापति ने इसे 'मिथिलापभ्रंश भाषा' नहीं कहा है अपितु 'देसी बोली' 'अवहट्ठ' की संज्ञा दी है।

देसिल बयना सब जन मिट्ठा
तञ तइसन जम्पञो अवहट्ठा।

(देसी बोली सबको मीठी लगती है– वही अवहट्ठ है) ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने भी 'वर्णरत्नाकर' में प्रमुख भारतीय भाषा के उल्लेख के क्रम में संस्कृत और प्राकृत के बाद अवहट्ठ को स्थान दिया है।

'अवहट्ठ' शब्द 'अपभ्रष्ट' का रूपांतर है। अपभ्रष्ट अथवा 'अपभ्रंश' को देशी बोली कहा जाता है।

अपभ्रंशः स विज्ञेयो भाषा यत्रैव लौकिकी।

(लौकिक भाषा ही अपभ्रंश के रूप में जानी जाती है)।

भारतीय आर्यभाषा और मैथिली

भाषा वैज्ञानिकों ने विश्व की समस्त भाषाओं को ध्वनि, पद, वाक्य और अर्थ की दृष्टि से प्रमुखतया चौदह भाषा परिवारों में बाँटा है, जिसमें सर्वप्रमुख भारत-योरोपीय (भारोपीय) भाषा परिवार है। भारतीय आर्यभाषाएँ भारोपीय परिवार के अंतर्गत आती हैं। भारोपीय भाषा परिवार से विकसित भाषाएँ सादृश्य के आधार

पर बारह (१२) उपशाखाओं में विभाजित हैं। इस उपशाखा में एक प्रमुख उपशाखा भारतीय और दूसरी उपशाखा ईरानी है। कहते हैं कि आर्यों का आदि-निवास मध्यप्रदेश में था। वहाँ से आर्यों का एक दल पूर्व की ओर ईरान जाकर बस गया, और दूसरा दल अफगानिस्तान होकर भारत आ गया। यही कारण है कि प्राचीन ईरानी और प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में अत्यधिक समानता है। प्राचीन ईरानी और प्राचीन आर्यभाषा का उदाहरण 'जरथुस्त्र' की गाथा अवेस्ता में एवं ऋग्वेद के कुछ अंशों में मिलता है।

प्राचीन **भारतीय आर्यभाषा का इतिहास** १२०० ई.पू. से आरंभ होता है। कालक्रम से इसके वैदिक और लौकिक दो भेद हो गए। वेदों में **वैदिक** भाषा का प्रयोग हुआ और लौकिक भाषा विद्वानों द्वारा परिनिष्ठित स्वरूप में **संस्कृत** के नाम से काव्यग्रंथ आदि की रचना में प्रयुक्त हुई।

प्राचीन लौकिक संस्कृत भाषा के विकास में भारत के आदिनिवासी आर्येतर जनसमुदाय की भाषा का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। विद्वानों का मत है कि संस्कृत शब्दभंडार में कम से कम चतुर्थांश भारत के आर्येतर आदिनिवासियों की भाषा के शब्द हैं। दूसरी बात यह है कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के केवल दो स्वरूपों के उदाहरण आज प्राप्त होते हैं– वैदिक और संस्कृत। लौकिक भाषा बाद में संस्कृत और साहित्यिक जरूर हो गई लेकिन उसका मौखिक औपभाषिक स्वरूप संस्कृत से कुछ भिन्न जरूर रहा होगा। भाषा वैज्ञानिकों ने उस मौखिक औपभाषिक लोकभाषा का अस्तित्व स्वीकार कर, उसी भाषा को मैथिली सहित सभी आधुनिक आर्यभाषा की जननी माना है। उदाहरण स्वरूप प्राचीन मैथिली में 'आजु' शब्द मिलता है। इसका वैदिक

रूप 'अद्य' है, जिससे 'अज्ज-आज' का विकास हो सकता है, 'आजु' का नहीं। 'आजु' का विकास 'अद्यु' से हो सकता है, जो न तो वैदिक भाषा में है और न संस्कृत में। इसलिए संस्कृत का औपभाषिक स्वरूप 'अद्यु' की परिकल्पना की जा सकती है। मैथिली सहित अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में अगणित शब्द भरे हैं, जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत की औपभाषिक परिकल्पना किए बिना संभव नहीं है। अतः संस्कृत का औपभाषिक लोकभाषा का अस्तित्व मानना पड़ेगा। इस अनुमानित लोकभाषा को विद्वानों ने प्रथम प्राकृत की संज्ञा भी दी है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का क्षेत्रीय विभाजन—प्राचीन आर्यभाषा पूरे देश में बोधगम्य तो अवश्य थी परंतु देश की विशालता के कारण उसमें क्षेत्रीय औपभाषिक विलक्षणता के आधार पर अनेक उत्तरकालीन भाषाओं का विकास हुआ। इस औपभाषिक भिन्नता के बारे में रुडोल्फ होयर्नले तथा सर जार्ज ग्रियर्सन आदि का मत है कि भारत में आर्यों का प्रवेश केवल एक बार नहीं, अनेक बार अलग-अलग समय में हुआ। इस मान्यता के आधार पर इन विद्वानों ने आर्यों की मौखिक भाषा को निम्नलिखित तीन शाखाओं में विभाजित किया है—

१. अन्तरंग उपभाषा (Inner Sub-branch)— इसमें सर्वप्रथम भारत में आए आर्यों की भाषा पश्चिमी हिंदी, पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी आदि की गणना होती है।

२. बहिरंग उपभाषा (Outer Sub-branch)— इसमें बाद में आए आर्यों की भाषा, जिसमें मैथिली, उड़िया, बंगला, असमिया मगही और भोजपुरी की गणना होती है।

३. मध्यवर्ती उपभाषा (Medial Sub-branch)– इसमें उपर्युक्त दोनों उपभाषा के मिश्रण से युक्त पूर्वी हिन्दी मध्यवर्ती सहित भाषा की गणना होती है।

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी को भाषा का उपर्युक्त क्षेत्रीय विभाजन का सिद्धांत मान्य नहीं है। उन्होंने वृत्तीय विभाजन की अपेक्षा सरल रैखिक विभाजन को विशेष तर्कसंगत माना है। उन्होंने उदीच्य प्रतीच्य, मध्यदेशीय, प्राच्य एवं दाक्षिणात्य नाम से भारतीय आर्यभाषा को पाँच भागों में बाँटा है। उन्होंने मैथिलीभाषा को प्राच्यभाषा समूह में रखा है।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा

१००० ई.पू. तक प्राचीन आर्यभाषा में इतना परिवर्तन हुआ कि वह सर्वथा नवीन भाषा बन गई। इसका कारण स्थानीय आर्येतर भारतवासियों की उच्चारण–असमर्थता थी जिससे स्वनप्रणाली में अभूतपूर्व परिवर्तन हो गया। परंतु यह परिवर्तन आर्य लोकभाषा में हुआ। परिष्कृत, और साहित्यिक भाषा संस्कृत तो अपने व्याकरण के कारण मूलरूप में अक्षुण्ण बनी रही।

इस मध्यकालीन आर्यभाषा का समय१००० ई.पू. से ८०० ई.पू. तक माना जाता है। इस १८०० वर्ष की अवधि में विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया में अपना स्वरूप परिवर्तित करती रही। डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी ने इसे चार वर्गोंमें विभाजित किया है।१. आदि रूप ७०० ई.पू.। २. संक्रमणकालीन रूप – ०० ई.। ३. द्वितीय रूप – ३०० ई. एवं ४. परवर्ती रूप ८०० ई.। परंतु आधुनिक विद्वानों ने इसे तीन वर्ग में ही विभाजित करना उचित समझा।

प्रथम अवस्था – प्रथम प्राकृत

द्वितीय अवस्था – नवीन प्राकृत

तृतीय अवस्था – अपभ्रंश

वस्तुतः उक्त तीन वर्गों का विभाजन विशेष तर्कसंगत है। वैसे प्राचीन भारतीय व्याकरणविदों ने विकास की दृष्टि से मात्र दो भाषा – प्राकृत और अपभ्रंश का उल्लेख किया है। उनके प्राकृत का आदर्श था जैनग्रंथ और संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत, जिसे नवीन प्राकृत में रखा जा सकता है। प्राचीन-प्राकृत के अंतर्गत अशोक का शिलालेख एवं पालि साहित्य की भाषा आती है, जिससे वे प्रायः अनभिज्ञ थे। भाषा गवेषकों ने क्षेत्रानुसार भिन्नता और विशेषता की दृष्टि से प्राकृत के अनेक भेद किए हैं। जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार प्राकृत के निम्नलिखित भेद हैं–

(i) बहिरंग उपशाखा– (क) पश्चिमोत्तर पैशाची, ब्राचर, खस

(ख) दाक्षिणात्य महाराष्ट्री

(ग) प्राच्य समूह-मागधी

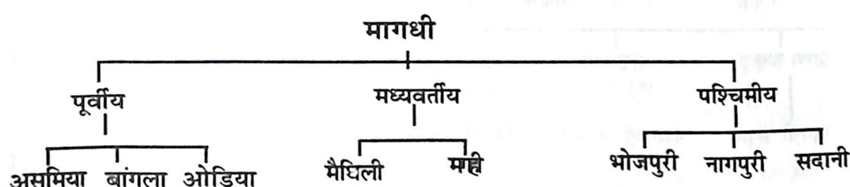
(ii) मध्यवर्ती उपशाखा– (घ) अद्‌र्धमागधी

(iii) अन्तरंग उपशाखा– (ङ) केन्द्रीय समूह शौरसेनी

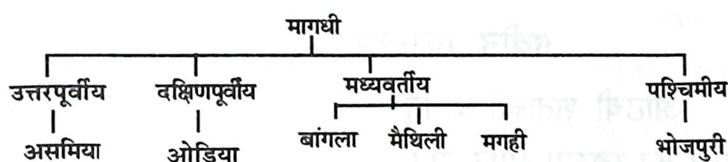
(च) **पहाड़ी समूह** - खस

मैथिली की उत्पत्ति मागधी प्राकृत से अपभ्रंश के विकास के क्रम में हुई, जैसे प्राच्य समूह की अन्य भाषाओं– बांगला, असमिया, उड़िया एवं मगही आदि की। मागधी प्राकृत से समस्त पूर्वांचलीय भाषा समूह की उत्पत्ति हुई, इसलिए इस भाषा समूह में एकवंशीय समानता दृष्टिगोचर होती है।

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने मागधी प्राकृत का वर्गीकरण निम्न रूप में किया है–

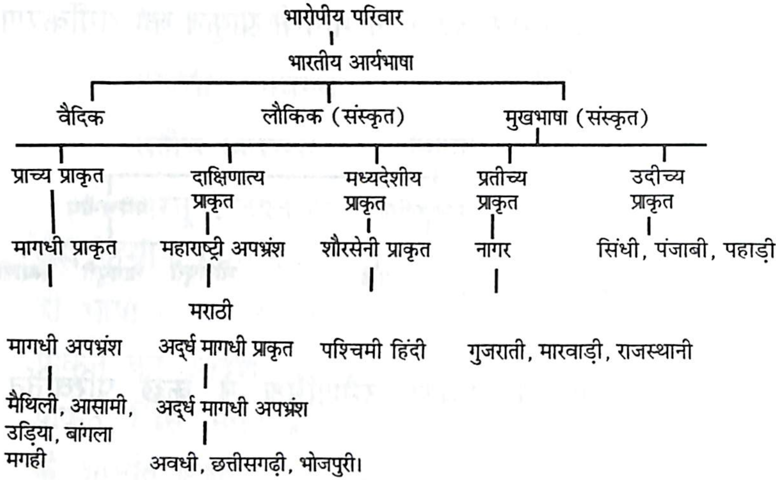


महामहोपाध्याय डाक्टर उमेशमिश्र ने कुछ परिवर्तित वर्गीकरण किया है–



भाषाविज्ञान की दृष्टि से भाषाओं का वर्गीकरण मुख्यतः दो प्रकार से किया गया है– १. आकृतिमूलक वर्गीकरण २. परिवारमूलक वर्गीकरण। परिवारमूलक वर्गीकरण में भाषाविज्ञान के प्रमुख अंगों ध्वनि, पद वाक्य तथा अर्थ को ध्यान में रखकर किया गया है। भारतीय आर्यभाषाएँ, 'भारत-यूरोपीय 'या भारोपीय परिवार' के अंतर्गत आती हैं और आधुनिक भारतीय भाषासमूह में 'मैथिली' एक महत्त्वपूर्ण भाषा है।

भारतीय आर्यभाषा के विकासक्रम में मैथिली का स्थान निम्नलिखित सारणी से अधिक स्पष्ट हो जाता है–



नवीन भारतीय आर्यभाषा

आठवीं शताब्दी बीतते-बीतते अपभ्रंश से नवीन भारतीय भाषाओं का स्वरूप स्पष्ट होने लगा और तेरहवीं शताब्दी तक उन सबका प्राचीन रूप स्थिर हो गया। मध्यकालीन आर्यभाषा का द्वित्व-व्यंजन-संयोग हटकर पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो गया। जैसे चक्र/चक्क/चाक/हस्त/हाथ एवं कारकरूप में लिंगभेद पूर्णतः समाप्त हो गया। कारक संबंध व्यक्त करने के लिए विभक्ति के स्थान पर और बहुवचन प्रकट करने के लिए प्रत्यय के स्थान पर परसर्ग का प्रयोग होने लगा। जैसे– बालक के बालक सभकेँ नाम तथा विशेष रूप से सर्वनाम का दो स्वरूप स्थिर हुआ। एक सरल (कर्तृवाचक) जैसे–हम। दूसरा तिर्यक (oblique विकारी) जैसे 'मोहि'। इसके अतिरिक्त संयुक्त क्रियापद लगाने की परिपाटी विशेष रूप से चलने लगी। जैसे– 'चलइत अछि। दए हलु'। क्रियापद में कर्मवाच्य वाक्य की रचना होने लगी। जैसे– 'देखि पड़ल'। परंपरागत भूतक्रिया के स्थान पर भूतकृदन्त के अनिवार्य

प्रयोग का प्रचलन बढ़ा। (जैसे दिन बीतल)। मैथिली सहित अन्यान्य नवीन भारतीय आर्यभाषा में एक तरफ यदि तत्सम शब्द का अधिक प्रयोग होने लगा तो दूसरी ओर विदेशी शब्दों की भी वृद्धि हुई। इतना अवश्य कि मिथिला भाषा का क्षेत्र भारत के सुदूर पूर्वोत्तर में पड़ने के कारण अन्य भाषा की अपेक्षा मैथिली में विदेशी शब्द विशेषतः अरबी, फारसी के शब्द अधिक प्रयुक्त नहीं हुए। विशेषता के अतिरिक्त अन्य नवीन भाषाओं की तरह मैथिली में पदक्रम स्थिर हुआ।

उपर्युक्त भाषागत विशेषता के अतिरिक्त साहित्य प्रयोग में नए-नए छंद और नए-नए काव्य रूपक, नए वर्णन-विषय और अभिव्यंजना की नई-नई शैलियों का प्रयोग होने लगा। वस्तुतः मैथिली अर्धमागधी या शौरसेनी से उद्भूत अवधी, भोजपुरी आदि बोलियों से भिन्न शुद्ध मागधी से उद्भूत भाषा है। **यह हिंदी या बंगला की बोली नहीं है अपितु एक पूर्ण स्वतंत्र भाषा है। इसके बहुत से तत्त्व हिंदी एवं बांगला से मिलते जुलते हैं परंतु अनेक तत्त्व ऐसे भी हैं जो इन दोनों में नहीं हैं परंतु अन्य भारतीय आर्यभाषाओं से भी भिन्न हैं।**

यह सत्य है कि सभी भाषाएँ अंततः संस्कृत से उद्भूत है, और इन सभी में संस्कृतमूलक तद्भव शब्दावली समान ही दृष्टिगोचर होती है। फिर भी समान शब्द एक भाषा से दूसरी भाषा में भिन्न अर्थ और सूक्ष्म भाव की ध्वनियों से भी हुए हैं। ग्रियर्सन ने कहा है कि 'मैथिली' उत्तर पश्चिम प्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश) की हिंदी के वर्ग की अपेक्षा बंगला के वर्ग से अधिक समीप है। बांगला, ओड़िया एवं असमिया की भाँति यह साक्षात् मागधी प्राकृत से उद्भूत है तथा इन तीनों भाषाओं से इसकी

रूपावली में इतना अधिक साम्य है कि इन चारों भाषाओं का एक सम्मिलित व्याकरण बनाया जा सकता है।

पूर्वांचलीय भारतीय आर्यभाषाओं– असमिया, ओड़िया और बांगला की तरह मैथिली में पूर्वी इलाके की तमाम विशेषताओं के साथ कुछ अपनी विशेषताएँ भी सम्मिलित हैं। लगभग सत्तर प्रतिशत संस्कृत के शब्द मैथिली में हैं, पालि प्राकृत और अपभ्रंश से होकर मूल संस्कृत के शब्द जब हिंदी में आते हैं तो वे मैथिली में यथावत प्रयुक्त होते हैं। उर्दू को छोड़कर दोनों का वर्णक्रम एक जैसा है। जैसे कि सभी भारतीय भाषाओं में अ, आ से लेकर क्ष त्र ज्ञ तक है।

मैथिली विभक्तिपरक संश्लिष्ट भाषा है और हिंदी परसर्ग प्रधान वियोगात्मक भाषा है। मैथिली में कभी-कभी एक ही विभक्ति कई रूपों में प्रयुक्त होती है। बांगला, असमिया और मैथिली में लिंगवाचक क्रियाओं का अभाव है। यथा– बांगला में 'राम जाच्छे' और 'सीता जाच्छे'। मैथिली में 'राम जाइत छथि' और 'सीता जाइत छथि' परंतु खड़ी बोली में क्रियापदों में लिंग का प्रयोग होता है। जैसे– 'राम जाता है' और 'सीता जाती है।'

पूर्वांचलीय भाषाओं में कर्ता कारक का कोई चिह्न प्रयोग नहीं होता है। मैथिली भाषा में भी ऐसा ही है। मैथिली व्याकरण में सर्वनाम के तीन रूप हैं– 'अपने' 'अहाँ' 'तों' या 'तोरा'। लेकिन हिंदी में सर्वनाम के केवल दो ही रूप प्रयुक्त होते हैं– 'आप' और 'तुम'।

मैथिली के सभी शब्द स्वरांत होते हैं। 'अ' कुछ वृत्ताकार होता है– बांगला के 'अ' की तरह। ए ऐ, ओ औ के ह्रस्व और

दीर्घ भेद से दो-दो उच्चारण होते हैं। संज्ञा के एकवचन और बहुवचन के रूप में कोई अंतर नहीं होता। अधिक स्पष्ट करने के लिए बहुवचन में 'सभ' 'सबहि' 'लोकनि' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। कर्म और संप्रदान कारक चिह्न के कारण कारक 'सैं' 'सौं' और 'एँ' प्रत्यय जुड़ते हैं। संबंधकारक क, का, केर और अधिकरण में 'मैं' जुड़ते हैं। सर्वनामों के तिर्यक् रूप 'मोहि, तोहि, ओहि, एहि, जाति, काहि, सरल हैं। की (क्या) का तिर्यक् 'कथी'। 'केओ' (कोई) का 'ककरहु' और कुछ का 'किछु' होता है। संबंध कारकीय सर्वनाम मोर, तकर, हुनकर आदि होते हैं। मैथिली में क्रियारूप जटिल हैं। कर्ता और कर्म के रूप आदर सूचकता के अनुसार बदल जाते हैं। जैसे- देखलथ (उन्होंने उसको देखा) देखलथिन्ह (उन्होंने उनको देखा)। सहायक क्रिया 'छ' रूप होती है (जैसे- देखइछ) भूतकालिक क्रिया 'ल' रूप (देखल) और भविष्यत् कालिक क्रिया 'ब' रूप होती है (जैसे- 'देखब')। क्रियाओं में लिंगभेद नहीं होता है।

तथ्य रूप में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत का जितना अनुसरण 'मैथिली' भाषा करती है, उतना अन्य कोई भाषा साहित्य नहीं करता। मैथिली साहित्य में संस्कृत का कथानक एवं विषयवस्तु जितनी उतारी गई है उतनी अन्य किसी भारतीय भाषा साहित्य में नहीं। संस्कृत काव्यशास्त्र के साहित्यिक रूप विद्या को मैथिली में अनेक प्रकार से समावेश किया गया है। मैथिली के महावैयाकरण पंडित दीनबंधुझा ने संस्कृत के वैयाकरण 'पाणिनि' की तरह 'सूत्र' में लिखा है तथा अंत में एक दीर्घ धातुपाठ की अनुक्रमणिका दी है। नियमित मैथिली नाटक में संस्कृत नाटककारों से ही अनुप्राणित होकर संस्कृत, प्राकृत और

मैथिली त्रिभाषा का प्रयोग किया गया है। महाकाव्य, खंडकाव्य, और चंपू जैसी विधा की साहित्यिक रचना में मैथिली के लेखक अभी भी गौरवान्वित होते हैं।

अन्य प्राच्य-भाषा-समूह में मैथिली की विलक्षणता

नवीन भारतीय भाषाओं में जो जटिलता से सरलता, संश्लिष्टता से विश्लिष्टता की ओर विकसित होने की प्रवृत्ति है, वह मैथिली में भी है। मैथिली की धातु रूपावली में आश्चर्यजनक संश्लेषणात्मक जटिलता की स्थिति इसे किसी प्राच्यभाषा से विलक्षण बना देती है। केवल मगही की धातु रूपावली में यह जटिलता है। यहाँ मैथिली तथा अन्य प्राच्य भाषाओं का प्रयोगभेद संक्षेप में जान लेना उपयुक्त होगा।

मैथिली और बांगला

लिंग और उच्चारण दोनों दृष्टि से मैथिली भाषा बांगला और पूरबी हिंदी के बीच में आती है। अब बांगला में अर्थगत और शब्दगत दोनों प्रकार का लिंगभेद हट गया है तो मैथिली में शब्दगत लिंग तो पूर्णतः समाप्त है परंतु अर्थगत लिंग, विशेषण और क्रियापद में अभी भी प्रचलित है। जैसे (मैथिली) 'छोटि बेटी गेल। बांगला-छोटो खुकि गेलो'। (छोटी बेटी चली गई)

उच्चारण-भेद की दृष्टि से सामान्यतः स्वरों का लघूच्चारण, अद्‌र्ध-अनुनासिक (ञ) एवं चंद्रबिंदु का प्रयोग जो मैथिली में होता है, वह बांगला में नहीं।

कारक-विभक्ति के प्रयोग की दृष्टि से प्राचीन मैथिली और बांगला में बहुत समानता है, जिसमें कर्त्ता, करण और अधिकरण में 'ए' लगता था। परंतु नवीन मैथिली में परसर्ग लगाने

की विशेष प्रवृत्ति है। इसी प्रकार शब्दभंडार की दृष्टि से भी बांगला से मैथिली का निकटतम संबंध कहा जा सकता है।

मैथिली और असमिया

उच्चारण रीति की दृष्टि से असमिया और मैथिली में भेद किया जा सकता है। मैथिली बांगला की उच्चारण-भंगिमा से निकट है परंतु शब्दरचना की दृष्टि से असमिया और मैथिली में अद्भुत समानता है। जैसे अस.–दिलाक, मैथि.-देलक। अस. –करि राख, मैथि.–कए राख। अस.–उठि, मैथि.-उठि। इसी प्रकार अनेक शब्द जो मैथिली का प्रसिद्ध शब्द है वह उसी अर्थ में असमिया का शब्द भी है। जैसे– भाओ, वनिज, पाँजर, खुजली, कुसिआर, लग, पिच्छल (पिच्छर) आदि। मिथिला और असम के बीच पौराणिक काल से ही घनिष्ठ राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संबंध के कारण भाषा की यह समानता है। कई विद्वानों का मत है कि असमिया भाषा का विकास मिथिला भाषा की प्रेरणा से हुआ। असम के शंकरदेव (१४४९-१५६०) तथा अन्य वैष्णव कवियों ने अपने धर्म की साहित्यिक अभिव्यक्ति मिथिला की भाषा में ही की।

मैथिली और ओड़िया

ओड़ीसा पर द्राविड़ों का इस प्रकार का राजनैतिक और सांस्कृतिक आधिपत्य हुआ कि ओड़िया का संबंध अन्य मागधीमूलक भाषा से विच्छिन्न हो गया। बाद में इस पर पालि और प्राकृत का प्रभाव पड़ा एवं आधुनिक ओड़िया मागधी प्राकृत से ही विकसित हुई है। आठवीं शताब्दी तक तेलंग राजाओं के आधिपत्य के बाद पचास वर्ष तक भोंसले का शासन यहाँ था। इसलिए मागधीमूलक

अन्य भाषाओं की तरह इसका विकास नहीं हुआ। अतः मैथिली से इस भाषा की पृथकता अधिक है, फिर भी कई अंशों में बांगला की अपेक्षा मैथिली से निकट है। बांगला में असमान संयुक्त व्यंजन न होकर प्रथम व्यंजन दो हो जाते हैं। जैसे– बांगला में 'आत्मा' के लिए 'अत्ता' होता है– लेकिन मैथिली और ओड़िया में दोनों व्यंजन का उच्चारण संस्कृत की तरह (आत्मा) होता है। बलाघात की दृष्टि से भी मैथिली और ओड़िया में सादृश्य है जिसमें पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर का उच्चारण होता है। यदि सभी स्वर दीर्घ होते हैं तो उपांत्य पर बल पड़ता है परंतु मैथिली के विपरीत ओड़िया में अति लघु स्वर का अभाव है।

मैथिली और मगही

मैथिली और मगही में सादृश्य अधिक है। दोनों में यदि अंतर मिलता है तो वचनप्रयोग में। मगही भाषा में प्रायः मैथिली व्याकरण का अनुसरण होता है।

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार यदि मिथिला और मगध में सांस्कृतिक संबंध स्थापित रहता तो दोनों भाषाएँ किसी एक ही भाषा की उपभाषा रहती। अतः दोनों की भिन्नता का कारण भाषात्मक नहीं ऐतिहासिक है। आनुवंशिकता की दृष्टि से दोनों में कोई अंतर नहीं है। दोनों के रूप एक दूसरे में समाहित है।

बिहारी और भोजपुरी-मैथिली

जार्ज ग्रियर्सन ने अपने 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' में एक बिहारी भाषा के नाम से प्राच्य भाषा वर्ग में मैथिली, मगही और भोजपुरी को परिगणित किया है। परंतु इस वर्ग को भाषाविज्ञान की दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं माना गया है। मैथिली,

मगही और अन्य पूर्वांचलीय भाषाओं का मूल मागधी प्राकृत है और भोजपुरी का विकास अद्र्धमागधी प्राकृत से हुआ है। भोजपुरी की परिगणना उत्तर प्रदेश की भाषा के रूप में ही प्रसिद्ध है।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से मैथिली और भोजपुरी में जिस प्रकार की समानता मिलती है वह थोड़ी बहुत अन्य आधुनिक भाषा में भी है। भोजपुरी में मैथिली की तरह विशेषण और क्रियापद में लिंग भेद होता है। जैसे—माई अइली। बाप अइलन। इसी प्रकार मध्यकालीन आर्यभाषा का 'ल' का 'र' दोनों भाषा में समान रूप से होता है। फिर भी दोनों भाषाओं में पर्याप्त भिन्नता दिखाई पड़ती है, जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है।

(१) भोजपुरी में 'अ' स्वर पश्चिमी भाषा की तरह स्पष्ट तीव्रात्मक रीति से उच्चरित होता है, पूर्वांचलीय भाषा की तरह वृत्तात्मक रीति से नहीं।

(२) भोजपुरी संज्ञा में 'न' लगाकर बहुवचन बनता है। जैसे– 'लड़िका' का बहुवचन 'लड़िकवन'। इसके विपरीत मैथिली में परसर्ग लगाके बहुवचन होता है। जैसे– नेना सब।

(३) भोजपरुी में संबंधवाचक विभक्ति 'के' है। मैथिली सहित पूर्वांचलीय भाषाओं में 'क' और 'केर' है।

(४) भोजपुरी में सम्मानवाचक सर्वनाम के लिए 'राउर' का प्रयोग होता है। इसी प्रकार क्रिया के साथ 'वाटे' का प्रयोग होता है। वर्तमान भूतकाल में 'इल' प्रत्यय का प्रयोग होता है जो मैथिली में नहीं होता।

इसी प्रकार भोजपुरी में व्याकरण के साथ-साथ उच्चारण प्रणाली में इतना भेद है कि दोनों भाषा को एक वर्ग में रखने का

कोई युक्तिसंगत कारण नहीं दिखाई पड़ता।

मैथिली एक स्वतंत्र भाषा

मैथिली को बांगला और हिंदी के अनेक विद्वान् अपनी-अपनी भाषा की उपभाषा सिद्ध करने की चेष्टा करते रहे हैं। बांगला के विद्वान् तो अब इसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार कर चुके हैं परंतु हिंदी के कितने विद्वान अब भी यदा-कदा इसे हिंदी की बोली कह देते हैं जो सर्वथा निराधार और अयुक्तिपूर्ण है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से स्पष्ट है कि यदि मैथिली, मागधी आनुवंशिक भाषा है तो हिंदी शौरसेनी-अनुवंश की। मैथिली पूर्वांचलीय भाषा है तो हिंदी पश्चिमीय (मध्यदेशीय) है। अतः जितना अंतर मागधी और शौरसेनी प्राकृत में है, उससे बहुत अधिक अंतर हिंदी और मैथिली में है। वाक्य-संघटन, वचन, सार्वनामिक रूप धातुरूप आदि सभी दृष्टियों से हिंदी और मैथिली में कहीं एकरूपता नहीं है। दोनों के बीच सादृश्य उतना ही है जितना किसी परिवार के अन्य आर्यभाषाओं के बीच हो सकता है। भाषा वैज्ञानिक कारण के अतिरिक्त मैथिली स्वतंत्र भाषा कहलाने की अधिकारिणी है– इसके अन्य प्रमुख कारण भी हैं। जैसे– १. मिथिला भाषा की सुदीर्घ साहित्यिक परंपरा हिंदी से प्राचीन है। २. 'मिथिला की अपनी स्वतंत्र सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक विशेषता है जिसके कारण मिथिला आज भी आर्यावर्त में विलक्षण मानी जाती है। ३. मिथिला भाषा की स्वतंत्र लिपि है जो तिरहुता अथवा मिथिलाक्षर कही जाती है। ४. मैथिली करोड़ो की मातृभाषा है जो हिंदी और उर्दू नहीं बोल सकते हैं। ५. मिथिलावासियों की अपनी संस्कृति है, परंपरा और साहित्य है, कला है तथा अपने कवि हैं।

मैथिली की उपभाषाएँ

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि मैथिली भाषा का सबसे प्राचीन नाम **अवहट्ठ** अथवा **मिथिला अपभ्रंश** था। मध्ययुग में मैथिली नाम की किसी भाषा की साक्षात् चर्चा नहीं मिलती है। सर्वप्रथम 'भारतीय भाषा सर्वेक्षण रूपक' अल्फाबेटम ब्राह्मणनिकम् नामक ग्रंथ १७७१ ई. में 'तूरुतिआना' नाम से मैथिली भाषा की चर्चा मिलती है। १८५३ ई. में सर अर्सकिन पेरी ने भी इसे 'तिर्हुती' नाम से संशोधित किया। परन्तु 'मैथिली' नाम से यह भाषा सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई। एच.टी. कोलब्रुक ने अपनी 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक पुस्तक में १८०१ ई. में सर्वप्रथम मैथिली नाम का प्रयोग किया। विलियम केरी ने भी इसी नाम को स्वीकारा। १८८० ई. में सर जार्ज ग्रियर्सन ने मैथिली नाम को स्थिर किया।

मैथिली के मानक स्वरूप के अतिरिक्त अपने अनेक सर्वबोधगम्य औपभाषिक स्वरूप के कारण मैथिली एक स्वतंत्र भाषा है। जार्ज ग्रियर्सन ने नवीन मैथिली को, प्रदेश के भिन्न-भिन्न भागों में व्यवहृत होने के कारण निम्नलिखित छह उपभाषाओं में विभाजित किया है–

१. मानक मैथिली–

मैथिली सबसे परिष्कृत रूप में केंद्रीय और उत्तरीय (पुराना) दरभंगा जिला, (संप्रति दरभंगा और मधुबनी) (पुराना) भागलपुर जिले के उत्तर भाग में तथा (पुराना) पूर्णियाँ जिले के पश्चिम में सुसंस्कृत लोगों, ब्राह्मणों द्वारा बोली जाती है। इनका अपना साहित्य एवं परंपरा है, इसलिए इस भाषा में अधिक विकास नहीं हुआ।

२. दक्षिणी मानक मैथिली–

इसका क्षेत्र समस्तीपुर जिला, उत्तरी मुंगेर एवं सहरसा, मधेपुरा जिला है तथा इस भूभाग में भी कुछ विशुद्‌ध रूप में बोली जाती है, परंतु कुछ कुछ विभक्ति आदि में क्षीणता दिखाई पड़ती है। दक्षिणी मानक मैथिली में 'जनै छी' क स्थान पर 'जानै छी', संबंध कारक 'क' के स्थान पर 'के' विभक्ति और सर्वनाम के स्थान पर 'ऊ' का, एवं अधिकरण में 'ए' का प्रयोग होता है। जैसे– मोर घरे तीन जना पाहुन छलथिन्ह। इसी प्रकार 'हमर तोहर' के स्थान पर 'मोर तोर' तथा 'जखन, तखन के स्थान पर 'जब तब' का प्रयोग होता है। क्रियापद में 'देखलहुँ' के स्थान पर 'देखलूं, देखली' का रूप चलता है। इसी प्रकार 'थिक' आदि के स्थान पर 'छीक, अछ' प्रयोग होता है।

३. पूरबी मैथिली–

जार्ज ग्रियर्सन ने पूरबी मैथिली को गँवारी मैथिली का नाम दिया है। इस भाषा का क्षेत्र पूर्णिया जिला का केंद्रीय और पश्चिमी क्षेत्र जहाँ यह अशिक्षित वर्ग द्‌वारा बोली जाती है। इसमें 'क' विभक्ति की जगह के, कर, र और केर का प्रयोग होता है। सार्वनामिक रूप में भी मानक मैथिली से भिन्नता है। जैसे– हम्मे, तोहे, तोहरे इहाँ, उ, ऊ आदि का प्रयोग। इसमें क्रियापद का रूप कर्म के अनुसार परिवर्तित नहीं होता है, तथा अल, अब के स्थान पर बांगला की तरह 'इल, इव' का प्रयोग भी मिलता है। जैसे– हमें आज देखिलो, एखने फेरि देखिबो। इसी प्रकार मानक मैथिली 'थिक' के स्थान पर 'छिक' का प्रयोग होता है। 'भेल' के स्थान पर 'होल' का।

४. छिकाछिकी मैथिली–

गंगा के दक्षिण मुंगेर के पूरबी भाग में दक्षिणी भागलपुर में तथा संथालपरगना उत्तरी और पश्चिमी भाग में छिकाछिकी मैथिली बोली जाती है, यह दक्षिणी मानक मधेपुरा की बोली से ज्यादा मिलती है। इसमें शब्द के अंत में 'हो' का उच्चारण होता है। जैसे कहबहो, अपनो आदि में। पदांत में 'इ' का दीर्घ उच्चारण जैसे 'देखी आबहो' में होता है।

इसमें अस्तित्वात्मक धातु के रूप में 'छिक' शब्द का प्रयोग बहुत होता है। यह न्यूनाधिक मात्रा में मगही तथा बांगला से प्रभावित है। अतः इसे छिका-छिकी मैथिली कहते हैं।

५. पश्चिमी मैथिली–

इस बोली का क्षेत्र मुजफ्फरपुर एवं चंपारन जिला का पूरबी भाग है। इस पर भोजपुरी का बहुत अधिक प्रभाव है।

६. जोल्हा मैथिली–

पुराना दरभंगा के मुसलमान मैथिली भाषा बोलते हैं तो उच्चारणमें विकृति के साथ-साथ अरबी-फारसी शब्द विशेष मिश्रित हो जाते हैं, जिसे ग्रियर्सन महोदय ने जोल्हाबोली का नाम दिया है। मुजफ्फरपुर, चंपारन में स्थानीय मुस्लिम लोग 'शेखई' बोली बोलते हैं। कभी-कभी इसे जोल्हा बोली भी कहा जाता है क्योंकि आम धारणा यह है कि इसे बोलने वालों में जुलाहा जाति की संख्या अधिक है।

कई विद्वानों ने उपर्युक्त भाषा विभाजन की आलोचना करते हुए मैथिली भाषा के विभिन्न रूपों के प्रयोग करने वालों की दृष्टि से पाँच वर्गों– पूर्वी, दक्षिणी, पश्चिमी, उत्तरी और

केन्द्रीय– के रूप में विभाजित किया है, तथा तदनुसार उन–उन क्षेत्रों में बोलने वालों की भाषा में क्षेत्रानुसार अंतर दिखाया है।

अंगिका और बज्जिका

पिछले कुछ वर्षों से मैथिली की दो उपभाषाओं का नवीन नामकरण हुआ है। अंगिका और बज्जिका। 'छिकाछिकी' यानी पूर्वी मैथिली को 'अंगिका' कहा जाने लगा है जिसका केंद्रीय स्थल **भागलपुर** है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार भागलपुर महाभारतकालीन अंगदेश की राजधानी थी। इसलिए उस क्षेत्र की भाषा 'अंगिका' हुई। इसी प्रकार पश्चिमी 'मैथिली' को 'बज्जिका' नाम दिया गया है। इसका नामकरण बज्जि और लिच्छवि के इतिहास के आधार पर किया गया है। कुछ मैथिली विरोधी लोग तत्क्षेत्रीय मैथिली भाषा को स्वतंत्र नाम देकर मैथिली से इसे अलग सिद्ध करने का आंदोलन चलाने लगे हैं। किंतु 'अंगिका' और बज्जिका मैथिली की ही अंग या बोली हैं न कि स्वतंत्र भाषा।

लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया खंड ५ के अनुसार १९११ ई. में मैथिली भाषा बोलने वालों की संख्या निम्न प्रकार थी--

मानक मैथिली–	१, ९४६, ८००
दक्षिणी मानक मैथिली–	२, ३००, ०००
पूरबी मैथिली	१, ३०, २,३००
छिका–छिकी मैथिली	१, ७१९, ७८१
पश्चिमी मैथिली	१, ७८३, ४९५
जोल्हा मैथिली	३, ३७०००
योग.	९, ३८९, ३७६

इसके अतिरिक्त मिथिला और नेपाल के प्राचीन सांस्कृतिक एवं भाषिक संबन्ध के कारण तथा मिथिला का कुछ भाग वर्तमान नेपालराज्य के अंतर्गत होने के कारण ग्रियर्सन ने उस समय नेपाल में मैथिली भाषियों की संख्या निर्धारित की, तदनुसार **सं. +६१०, ६२४** थी।

ग्रियर्सन के मतानुसार ही मिथिला क्षेत्र से बंगाल गए मैथिली भाषियों की संख्या थी – + **१, ९६७८२**

असम गए मैथिलीभाषियों की संख्या– + **६६५७५**

इस प्रकार १९११ में मैथिलीभाषियों की कुल संख्या– **१०,२६३३५७** होती है।

डा. उमेश मिश्र के अनुसार १९११ ई. की संख्या में प्रवासी मैथिलों की संख्या **५०००००** तथा मगही भाषियों की **सं.** ६५०४८१७ मिलाकर = **१, ७२, ६८१७४ एक करोड़ बहत्तर लाख अड़सठ हजार एक सौ चौहत्तर** होती है।

परन्तु २००१ की जनगणना के अनुसार मैथिली बोलने वालों की संख्या– **१२, १७९१, २२** बताई गई है। किंतु यह संख्या भ्रामक है और १९११ की संख्या से भी कम लगती है। संभवतः प्रवासी मैथिलीभाषी मैथिलों की संख्या या भारत में रहते हुए जिन मैथिलों की मातृभाषा जनगणना के समय मैथिली नहीं अंकित की गई, उन सबकी संख्या जनगणना के आंकड़ों में जुड़ी हुई प्रतीत नहीं होती। अतः अनुमान है कि १९११ की निर्धारित मैथिली भाषियों की संख्या में वृद्धि ही हुई होगी।

अस्तु, मैथिली भाषा के सन् १९९९ ई. में प्रकाशित 'कल्याणी कोश' में भी मिथिला भाषा को मुख्यतः भारत के उत्तर

बिहार तथा अंशतः नेपाल की तराई में लगभग २८००० वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में रहने वाले मैथिली भाषियों की संख्या लगभग **२,००,००,००० (दो करोड़)** बताई गई है।

मैथिली भाषा अपने क्षेत्र और उससे बाहर भी उत्कृष्ट स्थिति में रही है। यह जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहार की अनन्य माध्यम रही है। इसे मिथिला में कर्णाट राजवंश, ओइनिवार राजवंश, खंडबला राजवंश तथा नेपाल में मल्ल राजवंश और मोरंग में सेन राजवंश की मातृभाषा होने का सौभाग्य और प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इन वंशों के अनेक राजाओं ने मैथिली में काव्य और नाटक लिखे, और साहित्यकारों का संपोषण किया। मैथिली सैकड़ों वर्ष तक नेपाल, असम, बंगाल, ओड़ीसा और दक्षिण पूर्व बिहार के विशाल भूभाग में संपर्क भाषा के रूप में प्रचलित रही और इन क्षेत्रों में वैष्णव संप्रदाय (कृष्णभक्ति) की संदेशवाहिका रही।

साहित्य सर्जना में मैथिली पड़ोसी भाषाओं से बहुत आगे थी और इसके साहित्य का उत्कर्ष चौदहवीं शताब्दी में ही **महाकवि विद्यापति** के कारण उच्च शिखर तक पहुँच गया था और यह क्रम बाद में भी अनेक शताब्दियों तक चलता रहा।

सत्रहवीं शताब्दी आते ही मैथिली भाषा का कुछ ह्रास होने लगा। मिथिला में प्रशासनिक कार्यों में मैथिली की जगह फारसी आ गई। नेपाल और मोरंग में गोरखा राज की स्थापना होते ही नेपाली भाषा ने मैथिली को दबाना शुरू किया। अंग्रेजी राज के आने पर फारसी की जगह अंग्रेजी ने ले ली। आजकल स्वतंत्र भारत की सरकार में प्रशासन, शिक्षा और जनसंपर्क सभी क्षेत्रों में हिंदी चल रही है। फिर भी मैथिली भाषा पूर्णतः जीवंत है और

लोकभाषा में सतत प्रयुक्त होती हुई अपना अतीत उत्कर्ष पुनः प्राप्त करने के लिए संघर्षरत है।

मैथिली की महत्ता को देखते हुए भारत सरकार ने वर्ष २००३ ई. में मैथिली भाषा को संविधान की अष्टम सूची में प्रमुख भारतीय भाषा के रूप में सम्मिलित कर इसे शिक्षा, शासन और अन्य शासकीय संदर्भों के लिए मान्यता प्रदान की है। आज मैथिली भारत की २२ प्रमुख भाषाओं में गौरवान्वित है।

भारतीय वाङ्मय और साहित्य की प्रगति और समृद्धि के लिए समर्पित संस्था 'साहित्य अकादमी' ने सन् १९६५ ई. में ही मैथिली भाषा को स्वीकार कर मान्यता प्रदान की थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सन् १९१७ ई. में मैथिली भाषा को मान्यता प्रदान की थी।

मैथिली भाषा की लिपि– 'तिरहुता'

प्राचीन भारत में ब्राह्मी और खरोष्ठी इन दो लिपियों का प्रचार था। ब्राह्मी लिपि तो संपूर्ण भारत में प्रचलित थी और बाएँ से दाहिनी ओर लिखी जाती थी। तत्कालीन भारत की राष्ट्रीय लिपि के रूप में ब्राह्मी प्रचलित थी और खरोष्ठी लिपि का प्रचार भारत के पश्चिमोत्तर प्रांत में ही था। खरोष्ठी लिपि 'फारसी' की तरह दाहिने से बाएँ की ओर लिखी जाती थी।

जैसा कि डा. सुनीति कुमार चटर्जी ने माना है ब्राह्मी लिपि समस्त भारतीय लिपियों की जननी है। यह लिपि प्राचीनतम मानी गई है और इसका प्रमाण अशोक के शिलालेख में मिलता है। चौथी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य के प्रभाव के कारण ब्राह्मी लिपि 'गुप्त लिपि' कही जाने लगी। यही गुप्त लिपि भारत के

पूर्वांचलीय प्रदेश बिहार, ओड़ीसा, बंगाल और असाम में एक विशेष आकृति लेकर विकसित हुई। 'गुप्त-लिपि' को विशेष ढंग से शीघ्रता में लिखने के कारण यह आकृति विकसित हुई। इस तरह की शीघ्रतापूर्वक लिखी गई इस पूर्वांचलीय लिपि का उदाहरण सातवीं शताब्दी के एक पांडुलिपि में प्राप्त होता है। यह पांडुलिपि जापान की 'होरिउजी मंदिर' में मिली है। इसी पूर्वांचलीय लिपि को विद्वानों ने मागधी लिपि का नाम दिया है।

मिथिलाक्षर और बांगला लिपि

मागधी अपभ्रंश से जैसे सभी पूर्वांचलीय भाषाओं का विकास हुआ, वैसे ही गुप्तलिपि की पूर्वांचलीय आकृति से सभी पूर्वांचलीय लिपियों, बांगला, तिरहुतिया, ओड़िया और असमिया का विकास हुआ। इन सभी लिपियों में अद्भुत समानता है। यही कारण है कि तिरहुता में लिखी सभी पांडुलिपियों को बंगाली लोग आसानी से पढ़ लेते हैं। ऐसे ही मैथिल विद्वानों को भी प्राचीन बांगला में लिखित ग्रंथों को पढ़ने में कठिनाई नहीं होती। कई विद्वानों ने मिथिलाक्षर को भ्रमवश स्वतंत्र लिपि नहीं मान बांगला का कुछ परिवर्तित रूप माना है। वस्तुतः समानता रहते हुए भी बांगला और मिथिलाक्षर (तिरहुता) में बहुत अंतर है। ४९ वर्णों के ३० वर्णों में आकृतिमूलक समानता है। इसलिए १९ वर्ण बांगला से पूर्णतः भिन्नप्रकार से लिखे जाते हैं। बांगला से मैथिली लिपि लिखने में पूर्णतः भिन्न है। मुख्यरूप से लिखने की शैली में बंगला और मिथिलाक्षर में निम्नलिखित अंतर है–

१. बांगला में अक्षर के ऊपर शिरोरेखा सरल होती है तो मिथिलाक्षर में चापाकार।

२. दो ऊर्ध्व रेखा से बना वर्ण (य, म, स आदि) में बांगला में पहली ऊर्ध्व रेखा वाम-तिर्यक् से आरंभ होकर दक्षिण-तिर्यक् होकर नीचे आती है तथा इससे विपरीत एस (ऽ) के समान आकृति हो जाती है, परंतु मिथिलाक्षर में वाम-केंद्रिक अर्धवृत्त बनाते हाथ नीचे की ओर आता है।

३. मिथिलाक्षर में उकार नागरी २ अंक की तरह बिना हाथ उठाए ही लगाया जाता है परंतु बांगला में ऊर्ध्व रेखा बनाने के बाद उकार लिखा जाता है। इससे तिरहुता में 'उ' कार बांगला के 'व' के आकार का होता है तो बांगला में देवनागरी के २ अंक की तरह रहता है।

४. बांगला में 'उकार' लिखने में हाथ नीचे से ऊपर आता है तथा अधः शीर्ष पर बिंदु नहीं बनता है। तिरहुता लिखने में हाथ अधः शीर्ष पर बिंदु बनाते हुए ऊपर जाता है।

५. अनुस्वार एवं चंद्रबिंदु मिथिलाक्षर में शिरोरेखा के ऊपर लगाया जाता है बांगला में दाहिनी ओर।

मिथिला भाषा की लिपि को मैथिलीलिपि, मिथिलाक्षर एवं तिरहुता भी कहा जाता है। इतना स्पष्ट है कि इस लिपि को 'तिरहुता' लिपि तभी से कहा जाता है जबसे मिथिला भूभाग का नाम 'तिरहुत' पड़ा। गुप्तशासनकाल (चौथी शताब्दी) में मिथिला का नाम तिरहुत नाम पड़ा। उससे भी पूर्व के बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रंथ 'ललितविस्तर' में 'वैदेहीलिपि' का उल्लेख है, जिसे मैथिली लिपि का प्राचीनतम रूप कहा जा सकता है, जबकि ब्राह्मी के पूर्वांचलीय उपशाखा से मिथिलाक्षर का व्यक्तित्व क्रमशः स्पष्ट होने लगा था।

'तिरहुता लिपि की प्राचीनता के संबंध में निम्नलिखित प्रमाण दिए जाते हैं–

१. महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्री द्वारा अनुसंधान किया गया 'बौद्धगाव और दोहा' की पाण्डुलिपि।

२. महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत में 'कुरुवुल्ला सावन' के तालपत्र को देखा था, जिसे उन्होंने प्राचीन तिरहुता कहा है।

३. कर्णाटनरेश नान्यदेव (१०९७ ई.) के मंत्री श्रीधरदास के अंधराठाढ़ी का शिलालेख। इसी कारण डा. अमरनाथ झा के अनुसार मिथिलाक्षर का संपूर्ण स्वरूप नवम-दशम शताब्दी, स्पष्ट हो गया था।

४. प्रो. राधाकृष्ण चौधरी ने वैशाली के कटरा नामक स्थान से उपलब्ध ताम्रपत्रलेख, महिपाल (प्रथम) के समय का इमादपुर की मूर्ति में उत्कीर्ण आलेख एवं विग्रहपाल (द्वितीय) के समय का नीलगढ़ तथा वनगाँव का अभिलेख आदि का उल्लेख किया है। इससे प्राचीन तिरहुता की विशेषता पर प्रकाश पड़ता है।

५. ग्यारहवीं शताब्दी का 'पनिचोभ ताम्रपत्र का अभिलेख' 'आसी' शिलालेख आदि का उल्लेख भी हुआ है।

६. 'वर्णरत्नाकर' की पांडुलिपि तथा विद्यापति के भागवत का हस्तलेख भी महत्त्वपूर्ण है।

७. महाभारत के 'कर्णपर्व' की प्रतिलिपि (३२७ लक्ष्मण संवत् १४३६ ई.) ओइनिवारवंशीय राजानरसिंह के कणदाहा का अभिलेख (१३५७ साल, १४३५ ई.) आदि का संदर्भ भी लिया

जाता है।

८. इसके अतिरिक्त तिरहुता लिपि में लिखे अनेक संस्कृत ग्रंथ भी उपलब्ध हैं।

९. बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना ने तिरहुता में लिखे ग्रंथों का कालानुक्रम से सूची तैयार कर मिथिलाक्षर के अध्ययन का अवसर दिया है।

१०. आचार्य परमानंद शास्त्री के 'मिथिलामिहिर में प्रकाशित धारावाहिक अनेक लेख।

११. पं. राजेश्वर झा का 'मिथिलाक्षर उद्भव ओ विकास' नामक प्रबंध भी मिथिलाक्षर के संबंध में उल्लेखनीय है।

मिथिलाक्षर की विलक्षणता

बांगला और ओड़िया लिपि अपनी प्राचीन आकृति को बदल चुकी है, जो इसके प्राचीन और नवीन 'र' की तुलना से स्पष्ट हो जाता है। परंतु तिरहुता अभी भी अपने मूल रूप को लिए हुए है। तिरहुता और असमिया दोनों लिपियों की शुरूआत 'आँजी' (ℱ) से होता है।

मिथिला में किसी बच्चे का अक्षरारंभ होता है तो सर्वप्रथम उस बच्चे से 'आँजी' (ℱ)सिद्धिरस्तु लिखाया जाता है।

यद्यपि देवनागरी के प्रचार से प्राय: मिथिला के दैनिक व्यवहार में 'तिरहुता लिपि' का प्रयोग उठ सा गया है तथापि परंपरागत मैथिल संस्कृति के पोषक परिवार में अभी भी तिरहुता का प्रयोग पहले जैसा हो रहा है। विशेष रूप से विवाह, उपनयन आदि के अवसर पर निमंत्रणपत्र लिखने में मिथिलाक्षर का ही प्रयोग होता है। अनेक लोग देवनागरी का प्रयोग करते हुए भी

आरंभ में आँजी (ℱ) के चिह्न को अवश्य अंकित करते हैं।

'आँजी' चिह्न को लोग मंगलसूचक **गणेश जी के दाँत की आकृति** मानते हैं। परंतु पद्मनाभ भट्टाचार्य के मतानुसार 'आँजी' कोई अक्षर नहीं, अपितु तंत्र-संबंधी कुंडलिनी का सर्पाकार प्रतीकात्मक आकृति है, जो प्रत्येक अक्षर में व्याप्त रहते हुए इसके उच्चारण को नियमित बनाए रहती है। तंत्रग्रंथ से सिद्ध होता है कि द्विदलचक्र (आँजी चक्र) से ऊपर ऐसी कला की स्थिति रहती है जो तंत्रोपासक योगी मात्र को बड़ा प्रिय है।

अनेक विद्वानों के मत से तिरहुताक्षर की आकृति तांत्रिक यंत्र से विकसित हुई है। जैसे त्रिकोण, चतुष्कोण, वृत्त, बिंदु आदि से। अर्थात् तिरहुता के अक्षर तांत्रिक यंत्र के प्रतीक हैं। मिथिला आदिकाल से तांत्रिक उपासना की केन्द्रभूमि रही है एवं उसके सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर तंत्र का घनिष्ठ प्रभाव अभी भी दिखाई देता है। इसीलिए तो अन्य लिपियों की अपेक्षा तिरहुता में लिखा ग्रंथ पूजा-पाठ, धर्मकार्य के लिए अधिक उपयुक्त और प्रभावपूर्ण माना जाता है।

तिरहुता लिपि को अन्य पूर्वांचलीय लिपियों से विलक्षण मानने में निम्नलिखित प्रमाण भी दिए जाते हैं–

१. अधिकांश संयुक्ताक्षर र्ग, क्र, ष्ण, त्र, कृ, आदि के लिए अलग-अलग अक्षराकृति।

२. 'ओ' तथा 'औ' के लिए 'अ' में मात्रा लगा के नहीं लिखा जाता है, अपितु उसके लिए वर्णमाला में स्वतंत्र अक्षरों की व्यवस्था है।

३. देवनागरी से अलग रीति से मात्रा लगाई जाती है।

४. तिरहुता रोमन लिपि की तरह हाथ उठाए या पीछे किए बिना बड़ी शीघ्रता से लिखी जा सकती है।

५. इसके अक्षरों को 'ककहरा' कहा जाता है और प्रत्येक अक्षर में मात्रा लगाने के लिए नाम निश्चित है। जैसे– तरकेटा क, कांचुन का, हरिसें कि आदि–आदि। पूर्णविराम को पासी कहा जाता है।

अतः यह प्रमाणित होता है कि मैथिली भाषा की तरह मिथिलाक्षर एक स्वतंत्र लिपि है जो हजारों वर्ष से मिथिला के व्यावहारिक जीवन एवं साहित्य रचना में प्रयुक्त होती रही है। मिथिलाक्षर में मैथिली पुस्तकों का प्रकाशन आचार्य रामलोचन शरण ने प्रारंभ किया था।

मैथिली भाषा को भारतीय संविधान की अष्टम अनुसूची में सम्मिलित कर २००३ ई. में पृथक् भारतीय भाषा के रूप में मान्यता मिलने के कारण 'तिरहुता' लिपि को भी विस्तृत रूप से पुनः लागू करने के लिए प्रयास शुरू हो गए हैं, ताकि इस लिपि को भी मान्यता मिले। डिजिटल मीडिया में प्रयोग के लिए इस लिपि को यूनीकोड स्टैंडर्ड में सांकेतिक रूप (encoding) प्रदान करने के प्रयास भी हो रहे हैं।

यद्यपि मिथिलाक्षर के प्रयोग का इतिहास एक हजार वर्षों का है तथापि अधिकांश मैथिलीभाषी देवनागरी लिपि का प्रयोग करने लगे हैं और वर्तमान में तिरहुता जानने वालों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो गई है।

मिथिला में वर्तमान शतक से पूर्व जितने ग्रंथ और अभिलेख हैं, वे सभी तिरहुता लिपि में हैं। मैथिली साहित्य की

अनेक पांडुलिपियाँ, जो नेवारी' लिपि में लिखित हैं, नेपाल के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। अतः तिरहुता, नेवारी और देवनागरी मैथिली की इन तीन लिपियों की जानकारी अपेक्षित है। (तीनों लिपियों का नमूना परिशिष्ट में द्रष्टव्य है।)

मैथिली भाषा का छंदशास्त्र

मिथिला में प्राचीनकाल से ही छंदशास्त्र के ग्रंथ लोकप्रिय थे। प्राकृत पिंगल में मैथिली कवि हरिहरब्रह्म का नाम प्रसिद्ध है। उनके बाद अनेक कवियों ने टीका लिखीं जिनमें उच्चैठ निवासी मैथिल कवि कालिदास (१६४४ ई.पू.), रमापति (१७०४ ई.) दुर्गादत्त, दामोदर मिश्र, भीष्ममिश्र, जानकीनंदन तथा तरौनी निवासी राघव झा के नाम उल्लेखनीय हैं। महामहोपाध्याय काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार 'सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक प्राकृत के छंदशास्त्र का अध्ययन मिथिला में सर्वाधिक प्रिय था।' नागकृत 'प्राकृतपैंगल' और उसकी टीका का मैथिली तथा अन्य उत्तर-भारतीय लोकभाषा पर गंभीर प्रभाव पड़ा है। इसमें दोहा, त्रोटक, छप्पय, कुंडलिया, मालिनी और अन्य छंदों का भी विवरण है। उसमें अनेक ऐसे छंदों का विवरण भी है जो अब प्रचलित नहीं है। मैथिल विद्वानों ने कुंडलिया आदि लोकभाषा के छंदों का संस्कृत श्लोक रचना में भी पूर्ण उपयोग किया है। सत्रहवीं शताब्दी से लोकभाषा के छंदशास्त्र की ओर लोगों की विशेष रुचि जागृत हुई।

मैथिली भाषा के छंदशास्त्र का उत्कृष्ट विचार आधुनिककाल में पंडित श्रीगोविंद झा के 'संक्षिप्त छंदशास्त्र' (१९६० ई.) में उपलब्ध होता है। मैथिली के छंदों का विभाजन मुख्यतः (१) मात्रिक छंद (२) वर्णवृत्तछंद (३) गीतछंद और (४) आधुनिकछंद

इन चार वर्गों में किया जा सकता है।

१. मैथिली के प्रमुख मात्रिक छंद हैं– चौपाई, दोहा, सोरठा, बरवा, रोला, उल्लाल, छप्पय या जयकरी, कुंडलिया, गीतिका, हरिगीतिका, विजया, तोमर, पद्धरि या वसंत, सवैया, त्रियंगी, घनाक्षरी, सुमेरु, रूपमाला, लवनी, सरसी, सर, अल्हाऊ आदि।

२. वर्णवृत्त छंदों में– शिखरिणी, मालिनी, वसंततिलका, भुजंगप्रभात, द्रुतविलंबित, शार्दूलविक्रीडित, मंदाक्रांता, त्रोटक, और वंशस्थ आदि।

३. गीतछंद उत्तर भारत में प्रसिद्ध भाषा छंद है। 'गीतछंद' का नाम प्राकृत अपभ्रंश युग का है।

४. आधुनिक छंदों में आजकल नए-नए छंद जैसे मुक्त वृत्त, अमित्राक्षर आदि व्यवहार में आ रहे हैं। इनसे मैथिली कविकर्म की समृद्धि हो रही है। श्रीतंत्रनाथ झा ने अमित्राक्षर, चतुष्पदी तथा 'ओड' लिखा है। श्रीयात्री और श्री मधुप ने 'मुक्तवृत्त' लिखा है, जो उत्कृष्ट माना गया है।

मैथिली साहित्य

मिथिला के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास के आधार पर मैथिली साहित्य का उद्भव और विकास हुआ है। प्राचीन मिथिला विदेहवंश के राजा जनक के अधीन वैदिक संस्कृति की केंद्र थी। बाद में लोकतंत्रात्मक लिच्छवि वंश का साम्राज्य स्थापित हुआ तथा इसके पश्चात् क्रमशः गुप्तवंश और कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन को शासन करने का अवसर मिला। अंत में बंगाल के पालवंश के राजाओं ने मिथिला पर शासन

किया। तदनुसार मैथिली साहित्य के विभिन्न कालों को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा जा सकता है।

१. प्राक् मैथिली काल (आठवीं-बारहवीं शताब्दी)

२. आदिकाल (१३००-१६०० ई.)

३. मध्यकाल (१६००-१८६० ई.)

४. आधुनिककाल (१८६० ई. से वर्तमान तक)

प्राक् मैथिली काल (आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक)

पालवंश के शासनकाल (७५० ई. से ११३० ई. के बीच) में मिथिला में बौद्ध सभ्यता और तांत्रिक विद्या को आश्रय मिला। पालवंश के अंतिम शासकों ने विक्रमशिला विश्वविद्यालय को संरक्षण दिया, जहाँ चौरासी सिद्ध रहते थे, जिसमें से अधिकांश सिद्धों ने मैथिली में 'चर्यापद' लिखा। परंतु वैदिकधर्म के कट्टर केंद्र मिथिला में यह परंपरा चल नहीं सकी और बौद्ध विचारधारा के अभ्युदय होने की संभावना समाप्त हो गई। तथापि इस काल में मैथिली की पूर्ण संरचना नहीं हो सकी थी और वह निर्माण अवस्था में थी।

आदिकाल (१३०० से १६०० ई.)

कर्णाट राज्यवंश के राजा नान्यदेव ने १०९७ ई. से ११३३ ई. तक मिथिला पर राज्य किया। वे नीतिकुशल योद्धा और संगीतशास्त्र के प्रतिभावान विद्वान थे। उनके पुत्र गांगदेव (११३३ ई. से ११७४ ई. तक) ने देश पर सुव्यवस्थित रूप से शासन किया और विद्या, संस्कृति और भाषा को प्रोत्साहन दिया। वेद की अनेक टीकाएँ लिखी गईं। नरसिंहदेव के पौत्र प्रख्यात महाराज हरिसिंहदेव (१२९६-१३२४ ई.) कर्णाट राज्यवंश के महान् प्रतापी

शासक हुए। उनके प्रयास से देश में एक नवीन धार्मिक सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनधारा प्रवाहित होने लगी। वे स्वयं कुशल संगीतकार तथा अनेक विद्याओं, कलाओं के संरक्षक थे। कर्णाट वंश के शासनकाल में ही विद्यापति के स्वर्णिम काल का समुचित शुभारंभ हुआ।

कर्णाट वंश के पश्चात् एक नवीन राजवंश 'ओइनिवार राजवंश' का उदय हुआ, जिन्होंने मिथिला में १३५३ ई. से १५२७ ई. तक शासन किया। यद्यपि इस वंश में अनेक महत्त्वपूर्ण शासक हुए किंतु उनमें सर्वाधिक यशस्वी और शक्तिशाली महाराज शिवसिंह (१४१२ ई.-१४२९ ई.) थे। वे महाकवि विद्यापति के संरक्षक प्रियसखा थे। इसी वंश के अंतिम राजा लक्ष्मीनाथदेव भी विद्या और कला के प्रेमी और संरक्षक थे। स्वयं कवि होने के कारण वे अपने दरबार में अनेक निष्णात कलाकारों, कवियों और विद्वानों को संरक्षण दे रहे थे। मैथिली भाषा और साहित्यिक कार्यकलापों की पूर्ण प्रगति इस अवधि में हुई।

ओइनिवारवंश के अंत हो जाने पर मैथिली को नेपाल में, मोरंग और मकमानी आदि तराई क्षेत्रों में प्रोत्साहन और संरक्षण मिला। सन् १५२७ ई. में मुस्लिम आक्रमण के फलस्वरूप मैथिली साहित्य, विद्वान, कलाविद और संगीतकारों को नेपाल, बंगाल, असम, त्रिपुरा और ओडिशा आदि राज्यों में प्रोत्साहन और संरक्षण मिला। मैथिली को इन राज्यों में उत्कृष्ट साहित्यिक माध्यम मानकर विकसित किया गया और इस काल के मैथिली साहित्य की प्रमुख विधा गीतिविधा थी।

मध्यकाल (१६०० ई. से १८६० ई. तक)

मध्यकाल में विद्वत्ता, कला, और मैथिली साहित्य को देश में संरक्षण तथा प्रोत्साहन मिलने लगा। १५५७ ई. में मुगल सम्राट अकबरने मिथिला के राजा रघुनंदनराय के द्वारा उनके गुरु महाराजा महेशठाकुर को मिथिला का दान देकर एक नवीन राजवंश खंडबलाकुल का शासन मिथिला में स्थापित किया। इस अवधि में मैथिली साहित्य स्वाभाविक रूप से नए उत्साह से आगे बढ़ने लगा। इस काल में विशेष रूप से मैथिली नाट्यसाहित्य का विकास हुआ। अंत में १७९७ ई. में अंग्रेज शासकों ने मिथिला राज्य के राजाओं से शासन लेकर उन्हें जमींदार मात्र बना दिया।

आधुनिक काल (१८६० ई. से अब तक)

सन् १८५७ के सिपाही-विद्रोह के कारण मिथिला का शासन पूर्णरूप से अंग्रेजी शासन के अधीन चला गया। अब तक 'तिरहुत के राज्य' के नाम से प्रसिद्ध मिथिला का राज्य 'दरभंगा का राज्य' के नाम से जाना जाने लगा। मैथिली, भाषा, लिपि (तिरहुता) का व्यवहार राजकाज से हट गया।

सन् १८८० ई. के बाद स्वदेशीय व्यवस्था में महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह (१८८०-१८९८ ई.) के समय से मैथिली के पुनर्जागरण का काल प्रारंभ हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव और प्रचार से मैथिली साहित्य में भी अनेक रूप और नवीन विधाओं का प्रचलन हुआ। इस अवधि में गद्यलेखन के साथ-साथ नाटक, कविता आदि साहित्य की सभी विधाओं की समान रूप से उन्नति होने लगी जो आज भी नए-नए रूप में प्रचलित है।

मैथिली की साहित्यिक रूपविधा

मैथिली साहित्य में भारतीय साहित्य की परंपरागत विधाएँ उन-उन रूपों में उपलब्ध हैं, जिनसे इसके व्यापक स्वरूप का परिचय मिलता है। विभिन्न रूपों में उपलब्ध निम्नलिखित साहित्यिक विधाएँ हैं–

१. महाकाव्य– (अ) महाकाव्य का प्रथम रूप संस्कृत महाकाव्यों का अनुवाद या रूपांतर में मिलता है। जैसे– अच्युतानंददत्त का महाभारत तथा रघुवंश।

(ब) संस्कृत महाकाव्यों की तरह उन्हीं लक्षणों पर रचित स्वतंत्र महाकाव्य हैं। इस श्रेणी में कविशेखर बदरीनाथझा के द्वारा लिखित 'एकावली परिणय', रघुनंदन दास का 'सुभद्राहरण' तथा कवि चूड़मणि काशीकांत मिश्र 'मधुप' का 'राधाविरह' महाकाव्य आते हैं।

(स) तृतीय श्रेणी के महाकाव्यों में वे हैं जिनमें संस्कृत महाकाव्यों की प्रमुख विशेषताएँ आई हैं, भले ही महाकाव्यों के नियमों का पूर्ण पालन न हुआ हो। इस श्रेणी में मनबोध का कृष्णजन्म और कवीश्वर चंदा झा का 'मैथिली रामायण' है।

२. प्रबंधकाव्य (खंडकाव्य)

मैथिली में महाकाव्य से अधिक प्रबंधकाव्यों का प्रचलन है, ये खंडकाव्य के ही रूप हैं। मैथिली में निम्नलिखित प्रकार के प्रबंधकाव्य उपलब्ध हैं–

(i) रूपान्तर या अनुवाद रूप– इस वर्ग में मेघदूत, ऋतुसंहार, भर्तृहरिनिर्वेदकाव्य, विरहिणी व्रजांगना आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

(ii) **पौराणिक–** प्राचीन सुविख्यात चरितनायकों की कथा पर आधारित। जैसे– लालदास की 'गंगालहरी', 'गणेशखंड'। गुणवंतलालदास का 'गजग्रहोद्धार'। रघुनंदन दास का 'वीर बालक' ऋद्धिनाथझा का 'सतीविभूति' अनूप मिश्र का 'नारदविवाह'।

(iii) इस वर्ग में वाताह्वान काव्य आते हैं। चंदाझा और भानाझा के 'वाताह्वान' काव्य प्रसिद्ध हैं।

(iv) चौथेवर्ग में विरुदावली आती है। जैसे लालदास और ऋद्धिनाथ झा द्वारा लिखित विरुदावली।

(v) पाँचवें वर्ग में अनेक अवसरों पर लिखी गई बड़ी कविता। जैसे काशीकांत मिश्र का 'कोबर गीत' आदि।

(vi) छठे वर्ग में संस्कृत स्वयंवर या 'सम्मर' आते हैं। उन्नीसवीं शती में साधारण कवियों ने इसी प्रकार के काव्य लिखे। ऐसे काव्यों में जगन्नाथ, कृष्ण आदि के विवाहपर्यन्त की घटनाक्रम का वर्णन हुआ है।

मैथिली लोकसाहित्य

किसी युग में शिष्ट और परिनिष्ठित साहित्य से अतिरिक्त जो रचना होती है, वह उस युग का लोकसाहित्य होता है। लेकिन शिष्ट और पंडितवर्ग द्वारा स्वीकृत, समादृत होने के बाद आज का लोकसाहित्य भी कल के शिष्ट-साहित्य में अंतर्भूत कर लिया जाता है। मैथिली लोक साहित्य की रचना लोगों के मनोरंजन के लिए हुआ और अनेक लोकजीवन के उपकारी विषय के रूप में भी हुआ। जन्म से मृत्युपर्यन्त के अनुभव, जय-पराजय, राग-विराग, रीति-रिवाज, व्रत उपवास, शोषण, उत्पीड़न, सम्पन्नता-विपन्नता आदि की सहज भावाभिव्यक्ति हुई और इसीलिए ऐसे साहित्य

को वास्तविक अर्थ में लोकजीवन का दर्पण कहा जा सकता है।

मैथिली लोकसाहित्य में रोचक कथाएँ पद्यों में मिलती हैं, जिन्हें 'गीतकथा' या 'लोकगाथा' कहते हैं। जैसे– बिहुलागीत, दीनाभद्री का गीत आदि हैं।

पद्यगीतों में गीतिकाव्य का रूप प्रचलित है। अंग्रेजी के 'लिरिक' का समानार्थी मैथिली गीतिकाव्य में 'चर्यागीत' उपलब्ध है, जिसका अधिक विकसित रूप जयदेव के गीतगोविंद में मिलता है। विद्यापति ने प्राचीन मैथिली गीति के संयोग और वियोग शृंगार के रूप गीतिकाव्य की रचना तिरहुति में पर्याप्त रूप में की है। बंटगवनी, 'गोआलरी' 'रास' आदि गीतिकाव्य भी मैथिली में लिखे गए।

'मानगीत' नाटकीय गीतिकाव्य, समदाउनि (संवादवाणी) (एक प्रकार का विदाई गीत) आदि भी मैथिली के लोकसाहित्य में है। 'लगनी गीत' मधुरभाव से युक्त होते हैं।

चैतमास का शृंगारभाव प्रदर्शित करने वाला 'चैतावर गीत' तथा पावसऋतु का 'मलारगीत' वर्षाऋतु का 'धुरिया मलारगीत' आदि भी लोकसाहित्य के अंतर्गत आते हैं।

विद्यापतियुग का 'जोगगीत' तथा 'उचितीगीत' भी मैथिली भाषा की विशेष निधि है। 'सोहर' (जन्मकालीन गीत) 'बारहमासा गीत', 'छौमासा', 'चौमासा' आदि गीत भी प्रसिद्ध हैं।

इसके अतिरिक्त मैथिली भाषा में भक्तिगीतों की एक लंबी शृंखला है, जिनमें नचारी, महेशवाणी, गोसाउनिगीत, विष्णुपद (भजन कीर्तन) आदि प्राचीनकाल से आज तक लोकप्रसिद्ध गीत हैं। नेपाली मैथिली कवियों ने भी विष्णु, महेश तथा अन्य

देवताओं के नचारी गीत लिखे हैं।

विद्यापति और नेपाल के मल्ल राजाओं ने देवी, भगवती तथा शक्ति की स्तुतिपरक अनेक गीतों की रचना 'गोसाउनि गीत' के रूप में की है।

मैथिली में मुक्तक गीत श्लोक, दोहा, बंध आदि रूप में लिखे गए, जिसकी तुलना अंग्रेजी के 'सोनेट' 'ओड' आदि से की जा सकती है।

मैथिली में गद्यविधा में 'नाट्यगद्य' भी लिखे गए। आधुनिक गद्यविधा में पत्रकारिता का गद्य, निबंध, कथा, उपन्यास, यात्रा, साहित्यिक आलोचना, धर्मशास्त्र, दर्शन, इतिहास और जीवन तथा प्रकीर्ण गद्य के रूप मिलते हैं। प्राचीन प्रकार का चंपू काव्य भी मैथिली में लिखा गया।

मैथिली नाटकों में प्रायः संस्कृत नाटक के रूप अधिकाधिक हैं। आजकल मैथिली में प्रहसन और एकांकी सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। मैथिली नाटकों में नेपाली मैथिली नाटक, किरतनियाँ मैथिली नाटक, आधुनिक मैथिली नाटक उपलब्ध हैं। नेपाली संगीत नाटक तथा असम प्रदेश का अंकिया नाटक, किरतनियाँ मैथिली नाटक का ही प्रतिरूप हैं।

तृतीय परिच्छेद

कविकोकिल विद्यापति

जन्मस्थान

कविकोकिल विद्यापति मैथिली साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इन्हीं पर मैथिली साहित्य का संपूर्ण गौरव आधारित है। आधुनिक भारतीयभाषा के यही सर्वप्रथम महाकवि हैं, जिन्होंने संस्कृत साहित्य के अभेद्य दुर्ग को तोड़कर भाषा में काव्यरचना का साहस किया और परवर्ती महाकवियों के लिए श्रेष्ठ प्रेरक बने। इन्हीं के आदर्शों का अनुसरण कर शंकरदेव, चण्डीदास, रामानन्द राय, कबीर, तुलसीदास, मीराबाई, सूरदास आदि कवियों ने अपनी-अपनी भक्ति भावना का माध्यम अपनी मातृभाषा को बनाया।

विद्यापति का जन्म बिहार के मधुबनी जिलान्तर्गत बेनीपट्टी के पास 'गढ़विसपी' के शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिनशाखा के काश्यपगोत्रीय विसइवार विसपीमूलक मैथिल ब्राह्मण गणपति ठाकुर के यहाँ ईसवीं सन् चौदहवीं सदी के मध्य (१३५० ई.) में हुआ। इनकी माता का नाम गंगादेवी था।

विद्यापति के पूर्वजों का राजकुल से संबंध– विद्यापति का जन्म जिस वंश में हुआ उस कुल में प्रसिद्ध विष्णुठाकुर के पुत्र हरादित्यठाकुर तथा पौत्र कर्मादित्यठाकुर थे। कर्मादित्यठाकुर

के दो पुत्र देवादित्य और भवादित्य, उच्च राज्याधिकारी थे। यहीं से विद्यापति के पूर्वजों का राजकुल से घनिष्ठ संबंध का इतिहास मिलता है।

देवादित्य के सात पुत्र हुए जो पूर्ण सुयोग्य थे। उनमें सबसे बड़े वीरेश्वर ठाकुर महाराज शक्रसिंह के उच्चाधिकारी थे। वे विद्या के क्षेत्र में अद्वितीय ओर महामहोपाध्याय उपाधि से विभूषित महावार्तिक-नैबंधिक विद्वान थे। महामहोपाध्याय वीरेश्वर ठाकुर के पुत्र म.म. चण्डेश्वर ठाकुर भी राजकीय पद को अलंकृत करते हुए मिथिला के सामाजिक संघटन में यशस्वी बने। वे राजनीति, ज्यौतिष, धर्मशास्त्र आदि विषयों के प्रकांड विद्वान थे और स्वयं एक प्रसिद्ध योद्धा भी थे। लखिमा ठकुराइन इनकी धर्मपत्नी थी, इनकी कोई सन्तान नहीं हुई।

देवादित्य के अन्य पुत्र भी राज्याधिकारी हुए, किन्तु उनके द्वितीय पुत्र विद्यापति के प्रपितामह धीरेश्वर ठाकुर का नाम विद्या के क्षेत्र में उल्लेखनीय है। वे वार्तिक- नैबंधिक थे। धीरेश्वर ठाकुर के पुत्र जयदत्त ठाकुर और जयदत्त ठाकुर के पुत्र थे गौरीपति (गोपाल) ठाकुर एवं गणपतिठाकुर। गणपतिठाकुर के ही पुत्र थे विद्यापति।

इस प्रकार विद्यापति का जन्म ऐसे कुल में हुआ जो राज्यकुल से संबंधित ही नहीं राज्याधिकारी के रूप में समाज में प्रतिष्ठित और सम्मानित था और जिस कुल का मिथिला के राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक उत्कर्ष में महत्त्वपूर्ण योगदान था।

मिथिला के प्राचीन इतिहास और विविध अभिलेखों के प्रमाण से निश्चित होता है कि सन् १०९७ ई. से १३२४/१३२६ ई.

तक कर्णाट वंश के राजाओं का शासन था।

कर्णाट देश का परमारवंशीय क्षत्रिय नान्यदेव पारिवारिक विवाद से अशांत होकर कुछ अनुचरों के साथ बंगाल के राजा विजयसेन के पास आया। वहाँ विजयसेन ने अधिकारी पद पर उसकी नियुक्ति की। बाद में वे विजयसेन के साथ हुए युद्ध में पराजित होकर मिथिला आ गए। वहाँ अपने बुद्धिबल कौशल से पर्याप्त धन प्राप्त कर मिथिला के राजा हो गए। कुछ इतिहासकार का ऐसा भी मत है कि वे तीर्थयात्रा के क्रम में मिथिला आकर रहने लगे और २२७ वर्षों तक कर्णाटवंशीय राजाओं का शासन वहाँ चलता रहा।

जब कर्णाट नान्यदेव दक्षिण से मिथिला आया तो लोगों ने खुले दिल से उसका स्वागत किया, विशेषतः इस कारण से कि वह स्वयं एक साहित्य-कला प्रेमी विद्वान् था। उसने स्वयं अपना राज्य स्थापित किया और निरंतर छह पीढ़ियों तक कर्णाट मिथिला पर राज्य करते रहे। उन्होंने प्रदेश की जनता के साथ पूर्णरूपेण तादात्म्य स्थापित कर लिया और उनके हितैषी शासन के अंतर्गत मिथिला ने शांतिपूर्वक प्रगति की। यद्यपि मिथिला के अतिरिक्त संपूर्ण आर्यावर्त मुसलमानों के शासन में आ गया था, किंतु मैथिल क्षत्रियों का निर्विघ्न शासन बने रहने के कारण मिथिला पूर्ण राज्यकौशल के साथ प्रगति पथ पर अग्रसर रही।

कर्णाट शासक राजा न्यायमार्ग से शासन करते हुए, प्रजा को प्रसन्न रखते हुए वर्णाश्रम व्यवस्था को सुचारु रूप से चला रहेथे। इनके शासनकाल में महाकवि विद्यापति के पूर्वज धर्मशास्त्रीय नियमों के पालन में प्रवीण होने के साथ-साथ राजनीति में भी निपुण थे। अतएव सुदूर कर्णाट प्रदेश से आए मिथिलाधिपति ने

प्रारंभ से ही प्रसिद्ध विसइवार-विसपीवंशजों की सहायता और सहयोग, अपने राज्य को सुदृढ़ करने के लिए परमावश्यक माना। यही कारण था कि नान्यदेव ने विद्यापति के पूर्वज विष्णुदत्तठाकुर को शासन के प्रमुख पद पर नियुक्त किया। विष्णुदत्तठाकुर की सहायता के लिए उनके पुत्र हरादित्यठाकुर को भी उसी समय विशिष्ट अधिकारी के पद पर नियुक्त किया गया। इसके बाद शीघ्र ही हरादित्य के परम बुद्धिमान् पुत्र कर्मादित्य ठाकुर को भी मन्त्री बना दिया गया। विद्यापति के इन पूर्वजों के निर्देशन में निष्कष्टंक राज्य करते हुए नान्यदेव की मिथिला में प्रशंसा होने लगी।

सन् ११४६ ई. में नान्यदेव के दिवंगत हो जाने पर उनका पुत्र गाङ्गदेव उसी वर्ष राजा बना और कर्मादित्य ठाकुर को पूर्ववत् मन्त्री के रूप में काम करते रहने का अनुरोध किया। गाङ्गदेव के शासक पद पर आने के समय से ही नेपाल के राजा तथा गौड़ देश के राजा दोनों के साथ, संघर्ष होता रहा। किंतु मन्त्री कर्मादित्य एवं कर्णाट से ही नान्यदेव के साथ आए स्वामिभक्त श्रीधरदास के बुद्धिचातुर्य से महाराज शांतिपूर्वक राज्य करते रहे।

गाङ्गदेव ने दरभंगा नगर में एक विशाल गंगासागर नामक पोखर (तालाब) खुदवाया– इसी प्रकार गंगासागर नामक दूसरा तालाब अंधराठाढ़ी गाँव में और तीसरा 'गंगासागर' नामक तालाब मधुबनी के दक्षिण भाग में भौड़ागाँव के पास भी खुदवाया। तत्कालीन राजाओं ने जगह-जगह तालाब, कुआँ खुदवाना तथा मंदिर आदि का निर्माण करवाना अपना परमपुण्य कर्तव्य मान रखा था। सन् ११६४ ई. से ११८७ ई. तक सुशासन करते हुए गाङ्गदेव ने अपने उत्तराधिकारी पुत्र नरसिंहदेव को शासनसत्ता सौंप

दी और स्वयं परलोकवासी हो गए।

नरसिंह देव के महामंत्री भी विद्यापति के पूर्वज कर्मादित्य ही थे। नरसिंहदेव दिल्ली के सम्राट् शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी की, काफरराज के साथ युद्ध में, सहायता कर अपने पराक्रम के कारण 'सत्यवीर' की उपाधि से विभूषित हुए। नरसिंह देव ने काफरराज से युद्ध करने में जो पराक्रम दिखलाया, उसका विस्तृत वर्णन विद्यापति ने अपनी पुस्तक 'पुरुषपरीक्षा' में किया है।

नरसिंह देव अट्ठाइस वर्ष तक अपना सुशासन कर मिथिला का शासन अपने उत्तराधिकारी रामसिंह देव को सन् १२२५ में सौंपकर दिवंगत बन गया।

रामसिंह देव ने भी अपने शासनकाल में विद्यापति के पूर्वज कर्मादित्य ठाकुर के पुत्र देवादित्य ठाकुर को मंत्री के पद पर नियुक्त किया और देवादित्य ठाकुर का छोटा भाई भवादित्य भी राजा का प्रिय पात्र बन गया।

रामसिंह देव के राज्यकाल में विद्वानों का जमघट लगा रहता था और उस समय अनेक धर्मशास्त्र के ग्रंथों की रचना भी हुई। रामसिंह देव ने भी अनेक तालाब, कुएँ, खुदवाए और बाग-बगीचे लगवाए। सन् १२७६ ई. में उनका देहावसान हो गया।

सन् १२७६ ई. में शक्रसिंह मिथिला के शासक बने। देवादित्य ठाकुर उनके भी मंत्री बने रहे। देवादित्य के ज्येष्ठ पुत्र वीरेश्वर ठाकुर पिता के प्रधानमंत्रित्व काल में ही उपमंत्री पद पर नियुक्त हो गए।

शक्रसिंह ने तत्कालीन दिल्ली शासक अलाउद्दीन खिलजी

से मित्रता की। एक बार दिल्ली शासक के मीरमुहम्मद नामक सेनापति राजा के क्रोध से डरकर दिल्ली से भागकर रणथंभौर के किले में हम्मीर वीर के शरण में चला गया। दिल्ली शासक के अनुरोध पर भी हम्मीर वीर ने जब उसे नहीं छोड़ा तो बड़ा युद्ध हुआ और हम्मीर से दिल्ली शासक की दो बार हार हुई। तीसरी बार शक्रसिंह–देवादित्य और वीरेश्वर के सक्रिय सहयोग से दिल्लीशासक की जीत हुई। हम्मीर वीर मारा गया। देवादित्य के पराक्रम और बुद्धिकौशल से चकित होकर दिल्लीश्वर ने उसे 'मंत्रिरत्नाकर' की उपाधि से सम्मानित किया।

विद्यापति के पूर्वज वीरेश्वर ठाकुर ने राजकृपा से अनेक ग्राम दान में प्राप्त किये जो मैथिल श्रोत्रिय ब्राह्मणों को दान में दे दिए। साथ ही उन्होंने अनेक जनहित के कार्य भी किये।

वीरेश्वर ठाकुर और उनके छोटे भाइयों धीरेश्वर ठाकुर, गणेश्वर ठाकुर आदि के न्यायोचित सहयोग से राज्य करते हुए शासक शक्रसिंह १२८६ ई. में दिवंगत हो गए।

महाराज शक्रसिंह की मृत्यु के समय उनके एक ही उत्तराधिकारी पुत्र हरिसिंह देव राज्य के अधिकारी थे, जो दो वर्ष से भी कम अवस्था के बालक थे। अतः अत्यल्पवय में भी उनका राज्याभिषेक हो गया और विद्यापति के पूर्वज नीतिनिपुण देवादित्य के निर्देशन में राज्यशासन तथा हरिसिंहदेव का पालन पोषण, संरक्षण होता रहा। देवादित्य के सात महारथी, नीतिनिपुण पुत्र भी शासन के विभिन्न पदों पर कार्य करने लगे। उनके नाम थे वीरेश्वर, धीरेश्वर, गणेश्वर, जटेश्वर, हरदत्त, लक्ष्मीश्वर और शुभदत्त। शीघ्र ही देवादित्य के पौत्र और वीरेश्वर के पुत्र **चण्डेश्वर** महामंत्री बन गए और अपने अलौकिक गुणों और योग्यता के

कारण महासेनाधिपति का पद प्राप्त किया। कालक्रमानुसार हरिसिंहदेव के राज्यभार वहन करने के योग्य हो जाने पर सभी राज्यशासन के अधिकारी अपने-अपने दायित्व का निर्वाह करने लगे और शास्त्रीय ज्ञान के प्रचार-प्रसार में लग गए। उस समय अनेक रत्नाकर ग्रंथों के साथ 'राजनीति-रत्नाकर' नामक प्रमुख राजनीति ग्रंथ की रचना की गई।

सान्धिविग्रहिक चण्डेश्वर के महामंत्रित्वकाल में महाराज हरिसिंह देव भी युवा होकर प्रबल पराक्रमी हो चुके थे। उन्होंने नेपालराज्य पर आक्रमण करके किरात राज और अन्य राजाओं को जीतकर नेपाल पर भी अधिकार कर लिया। उस विजय के उपलक्ष्य में अनेक फल आम, केला आदि के बगीचे लगवाए गए तथा ब्राह्मणों को अनेक गाँव दान में दिए गए।

महाराज हरिसिंहदेव ने पिता शक्रसिंह के निवासस्थान शक्रपुरी (वर्तमान सकरी) के पास नेहरा नामक गाँव में एक विशाल, गहरा तालाब खुदवाया, जो आज 'रजोखरि' नाम से प्रसिद्ध है।

महाराज हरिसिंहदेव के द्वारा विद्वानों के बीच विचार-विमर्श करके 'पञ्जीप्रबंध' की विधिपूर्वक व्यवस्था १३२६ ई. में लागू हुई, जो मिथिला की एक महत्वपूर्ण सामाजिक व्यवस्था है और सर्वमान्य है। पञ्जीप्रबंध के सम्बंध में विस्तृत विवरण पूर्व में मिथिला के परिचय-परिच्छेद में दिया जा चुका है।

हरिसिंहदेव के १३१६ ई. तक मिथिला के शासन के समय दिल्ली का सम्राट् खिलजी वंशीय जलालुद्दीन का भतीजा अलाउद्दीन था। अलाउद्दीन के बाद तुगलक वंश के गयासुद्दीन ने

१३२५ ई. तक शासन किया। इसी बीच मिथिला नरेश हरिसिंहदेव पर आक्रमण करने की इच्छा से गयासुद्दीन बड़ी सेना लेकर आया, किंतु हरिसिंहदेव से उसकी हार हो गई। हारने के बाद गयासुद्दीन ने बंगाल नरेश लक्ष्मणसेन के साथ युद्ध किया और उसे हराकर वहाँ का शासक बन बैठा। इस प्रकार महाबली गयासुद्दीन ने फिर १३२६ ई. में आक्रमण करके हरिसिंहदेव को हराया और मिथिला का राज्य अपने अधिकार में कर लिया। उत्तर भारत का अंतिम क्षत्रिय शासन समाप्त हो गया। हरिसिंह देव को तत्कालीन दिल्ली सम्राट के प्रशासक जुन्नाखान ने गिरफ्तार करने का आदेश दिया। किन्तु गुप्तचर से इस समाचार को जानकर हरिसिंहदेव ने राजपुरोहित कामेश्वर ठाकुर को राज्यशासन सौंपकर, स्वयं निर्भीक होकर नेपाल की ओर जाकर पर्वत गुफाओं में शरण ले ली। विद्यापति के पूर्वज और मिथिला में ओइनिबार शासक

यद्यपि ऐसा भी प्रमाण मिलता है कि सिमरौनगढ़ (मिथिला राजधानी) से चलकर हरिसिंहदेव तीन-चार महीने छिपकर गुप्त रूप से हरिलाखी के पास उमगाँव में रहे। वहाँ युद्धविद्या में चतुर महामंत्री चंडेश्वर ने सैन्यबल जुटाकर युद्ध करने के लिए उत्साहित कर नेपालदेश को जीतने के बाद हरिसिंह देव को भक्तपुर में राज्याधिकार दिलवाया। हरिसिंह देव की नेपाल-विजय यात्रा का विस्तृत वर्णन **चण्डेश्वर** ने 'कृत्यरत्नाकर' में किया है। नेपाल के भक्तपुर में हरिसिंहदेव की राजधानी बनाकर और उन्हें सुदृढ़ करके महामंत्री चण्डेश्वर पुनः अपनी जन्मभूमि मिथिला आए और कामेश्वर ठाकुर के पुत्र राजा भवेश्वर के पास रहने लगे। इन्हीं की आज्ञा से उन्होंने 'राजनीति रत्नाकर' नामक ग्रंथ की रचना की। दिल्ली के मुस्लिम सम्राट् ने मिथिला को मुस्लिम

सूबेदार के प्रत्यक्ष शासन में रखना उचित नहीं समझा था। हरिसिंहदेव ने तो मिथिला से प्रस्थान के समय ही राजगुरु कामेश्वर ठाकुर को राज्याधिकार का शासनपट्ट लिखकर दे दिया था। अतः फीरोजशाह तुगलक ने भी तिरहुत का राज्य राजपंडित कामेश्वरठाकुर के अधीन करने का आदेश भिजवा दिया। कामेश्वरठाकुर और उनके वंशजों को विद्यापति के पूर्वज-कुल सदस्य सहयोग देते रहे। कामेश्वर ठाकुर का अत्यंत सम्मानित ब्राह्मण-परिवार मुजफ्फरपुर जिले में पूसा के पास 'ओइनी' गाँव का मूल निवासी था। अतएव कर्णाटों के पतन के बाद मिथिला में 'ओइनिबार' राज्य की स्थापना हुई। ओइनिबार राज्य की स्थापना के बाद लगभग एक दशक के भीतर विद्यापति का जन्म हुआ।

सन् १३२६ ई. में ओइनिवारवंशीय भोगीश्वर मिथिला में प्रथम ब्राह्मण राजा हुए। उन्होंने अपने छोटे भाई कुसुमेश्वर को नियुक्त किया किंतु तीसरे भाई भवेश्वर ने बलपूर्वक राज्य को बाँटकर आधा राज्य ले लिया। चौथा भाई बचपन में ही दिवंगत हो गया। पिता कामेश्वर ठाकुर के अनुरोध पर चाचा हर्षणठाकुर को भोगीश्वर ने राजनगर के पास सुगौना गाँव दे दिया और मिथिला के दक्षिण भाग में ओइनी गाँव में अपनी राजधानी बनाकर, वे सन् १३६० ई. तक आधे राज्य पर शासन करते रहे।

विद्यापति के जन्म के समय मिथिला में सामाजिक और बौद्धिक पुनरुत्थान का समय था और उस पुनरुत्थान के नायकों का ऐसा परिवार था, जिसके वे एक योग्य प्रतीक थे। वे ओइनिबारो के नवस्थापित राजपरिवार से घनिष्ठरूप में संबद्ध थे और जीवनपर्यन्त ओइनिबार राजाओं के दरबार में प्रमुखरूप से

विद्यमान रहे और ओइनिबार राजकुल के सात राजाओं की सेवा की। विद्यापति का आनुवंशिक उपनाम 'ठाकुर' था। वे शुक्ल यजुर्वेद की माध्यंदिन शाखा के काश्यपगोत्रीय मैथिल ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। यह ऐसे विद्वान्-राजपुरुषों का परिवार था जो मिथिला में अपने शास्त्रीय ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था और कर्णाट राजाओं के दरबार में विश्वस्त उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर आसीन था।

यद्यपि कर्णाटशासन के अंत के बाद ओइनिवर वंशियों के हाथ में मिथिला का शासन आया किंतु आपसी विद्वेष और कलह के कारण कुछ समय तक मिथिला का शासन अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित रहा। राज्यलिप्सा के कारण वे षड्यंत्र में लगे रहे। अतः भवसिंह ने अवसर पाकर सारे राज्य पर अधिकार कर लिया और वृद्ध चण्डेश्वर महामंत्री का समर्थन पाकर स्वयं तिरहुत का सर्वमान्य शासक राजा हो गया और राजत्व के प्रतीक के रूप में सिंह की उपाधि धारण कर ली।

विद्यापति और शिवसिंह

भवसिंह का बेटा देवसिंह सन् १३७० ई. में उसका उत्तराधिकारी राजा बना। उसने ओइनी गाँव छोड़कर दरभंगा नगर के पास दक्षिण में, देवकुली (देकुली) गाँव में अपनी राजधानी बनाई। इसी बीच देवसिंह का बेटा **शिवसिंह** लगभग अठारह वर्ष की उम्र का हो गया। वह युवा महान् तेजस्वी और पराक्रमी था और राजनीति में उसकी भरपूर पैठ थी। विद्यापति उस समय बीस वर्ष के थे और शिवसिंह के बालसखा होने के साथ-साथ उसके प्रमुख परामर्शदाता भी थे।

देवसिंह पारिवारिक कलह से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण इतने ऊब गए कि राज्यभार अपने पुत्र शिवसिंह को सौंपकर स्वयं वानप्रस्थ जीवन बिताने के लिए नैमिषारण्य तीर्थ चल गए।

शिवसिंह ने अपने पौरुष और पराक्रम से स्वयं को एक अत्यंत उदात्त और शक्तिशाली लोकप्रिय शासक सिद्ध कर दिया। वह स्वतंत्र रूप से अपनी वीरता दिखाने लगा। उसने बंगाल तथा पटना के मुस्लिम नवाबों से कई युद्ध किए। महामंत्री चण्डेश्वर के बाद धीरेश्वर के पुत्र जयदत्त ठाकुर और जयदत्त ठाकुर के पुत्र गणपति ठाकुर ओइनिबार वंशीय राजाओं के प्रधानमंत्री के पद पर कार्यरत हुए।

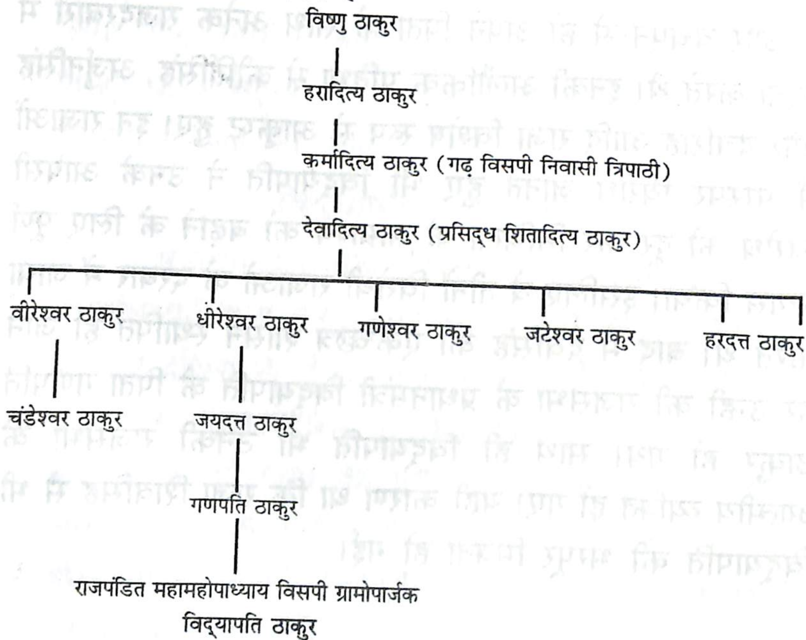
गणपति ठाकुर के पुत्र विद्यापति अलौकिक प्रतिभासंपन्न थे और बचपन से ही अपने पिता के साथ अनेक राजदरबारों में जाया करते थे। इनकी अलौकिक प्रतिभा से कीर्तिसिंह, अर्जुनसिंह और देवसिंह आदि राजा विशेष रूप से आकृष्ट हुए। इन राजाओं में परस्पर विरोध जानते हुए भी विद्यापति ने उनके आपसी विरोध को दूर कर मिथिला के साम्राज्य को बढ़ाने के लिए पूर्ण प्रयास किया। इसलिए वे तीनों विरोधी राजाओं के दरबार में जाया करते थे। बाद में देवसिंह का एकच्छत्र शासन स्थापित हो जाने पर उन्हीं की राजसभा के प्रधानमंत्री विद्यापति के पिता गणपति ठाकुर हो गये। साथ ही विद्यापति भी उनकी राजसभा के आत्मीय व्यक्ति हो गए। यही कारण था कि राजा शिवसिंह से भी विद्यापति की भरपूर मित्रता हो गई।

विद्यापति की शिक्षा और बहुज्ञता

विद्यापति ने विद्यार्थी अवस्था में सुविख्यात विद्वान् महामहोपाध्याय श्री हरिमिश्र से व्याकरण, न्याय मीमांसा आदि शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण की और प्रकाण्डपण्डित हो गए। म.म. हरिमिश्र उस समय मिथिला में पक्षधर मिश्र के नाम से प्रसिद्ध नैयायिक थे और जयदेव मिश्र के चाचा थे।

विद्यापति नैमिषारण्य में शिवसिंह के पिता देवसिंह के साथ भी गए और वहीं अपनी पहली प्रामाणिक कृति **'भूपरिक्रमा'** की रचना की, जिसमें नैमिषारण्य से तिरहुत तक के मार्ग का वर्णन है।

सन् १३२६ ई. में राजा हरिसिंह देव के आज्ञानुसार मिथिला-पंजी (पाँजि-१) की रचना हुई, जिसके अनुसार विद्यापति की वंशावली निम्नप्रकार है-



गुरु से अधीत शास्त्र और शिक्षा तो विद्यापति के जीवन की शिक्षा का एक अल्प अंश था। मिथिला उस समय विद्या की प्रमुख केंद्र थी, विभिन्न प्रदेशों से आकर लोग यहाँ संस्कृत शिक्षा की विभिन्न शाखाअें का अध्ययन करते थे। सारे देश के लोगों के साथ शास्त्र, धर्म, राजनीति और सामाजिक मूल्यों पर वे चर्चा करते थे। इस प्रकार वे अपनी सर्वव्यापिनी रुचि और उदार दृष्टि से ज्ञान का आगार बन गए।

विद्यापति जीवनपर्यंत एक जिज्ञासु और ज्ञानपिपासु पाठक बने रहे। उन्होंने पुराण, आगम, तंत्र धर्मशास्त्र आदि का इतना सूक्ष्म अध्ययन किया कि उनके प्रसिद्ध गीतों में इन शास्त्रों की प्रतिध्वनि गूँजती रही है। शिवसिंह के दरबार में राजपंडित होने के कारण दरबार में पधारने वाले विद्वानों के साथ उनका घनिष्ठ संबंध और संपर्क बना रहता था। उनकी मेघा शक्ति तीव्र थी, अतः कभी कोई बात विस्मृत नहीं होती थी। उनकी विद्वत्ता और पांडित्य ने उन्हें एक सिद्धकवि के रूप में विशिष्ट प्रतिभाशाली मिथिला के 'कविकोकिल' के रूप में स्थापित कर दिया।

विद्यापति ने जिस वंश में जन्म लिया वह अपने पाण्डित्य के लिए अत्यंत विख्यात था। तत्कालीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों और पंजी प्रबंधों से यह सिद्ध होता है कि विद्यापति के सभी पूर्वज धुरंधर विद्वान् थे और सभी ने किसी न किसी महान् ग्रंथ की रचना की थी। उनके पूर्वज राजपुरुष होने के नाते व्यस्त रहते हुए भी विख्यात लेखक थे। यही कारण था कि किशोरावस्था से ही विद्यापति के मन में लेखक बनने की महत्त्वाकांक्षा जाग उठी थी। चंडेश्वर के घराने की परंपरा का पूरी तरह निर्वाह करते हुए उन्होंने संस्कृत में लिखना प्रारंभ किया क्योंकि संस्कृत पर उनका

छोटी उम्र से ही अद्‌भुत अधिकार था।

विद्‌यापति एक बहुज्ञ कवि थे। वे अनेक शास्त्रों, काव्यों और लौकिक व्यवहारों के कुशल ज्ञाता थे। इतिहास, पुराण, भूगोल, स्मृति, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, कूटनीतिशास्त्र और विविध भाषाओं पर उनका पूर्ण अधिकार था। इनकी कीर्तिलता, कीर्तिपताका और पुरुषपरीक्षा **ऐतिहासिक**, शैत्र सर्वस्वसार, शैवसर्वस्वसार **प्रमाणभूत संग्रह**, पौराणिक, भूपरिक्रमा **भौगोलिक**, गंगावाक्यावली, दानवाक्यावलि, दुर्गाभक्ति तरंगिणी, गयापत्तलक और वर्षकृत्य **स्मृतिशास्त्र** की रचनाएँ हैं, जिनमें उनका प्रखर पांडित्य प्रदर्शित हुआ है।

विद्‌यापति संस्कृत कवियों से प्रभावित हुए। इन कवियों में माघ, अमरुक, गोवर्द्धनाचार्य, कालिदास और जयदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन कवियों से प्रभावित होने पर भी विद्‌यापति ने अपनी काव्यप्रतिभा के बल पर अपनी कविता को अधिक हृदयग्राही बना दिया। यही उनकी काव्यप्रतिभा की विलक्षणता है।

संस्कृत काव्य के सौंदर्य से संपृक्त मधुर, सुरीले गीतों के रचयिता विद्‌यापति की कीर्ति आश्चर्यजनकरूप से सर्वत्र व्याप्त थी। जिसने भी इन गीतों को सुना वह इनके सुरीलेपन से मोहित हो गया और इनमें व्यक्त भावनाएँ इतनी सर्वसाधारण थी कि वे सौंदर्यानुभूतिजन्य आनंद से अपरिचित सामान्य जन को भी उसकी अनुभूति प्रदान कर सकी। मिथिला में उस समय संस्कृत ही सुसंस्कृत सामाजिकों की भाषा थी और वहाँ संस्कृत के अलावा अन्य किसी भाषा में लिखना हेय जैसा था। विद्‌यापति में

मिथिला की भाषा **मैथिली (अवहट्ठ)** में लिखने का साहस एवं आत्मविश्वास था। विद्यापति द्वारा लोकभाषा में लिखने से उन्हें लोकप्रियता मिली, साथ ही उन्हें अभूतपूर्व कीर्ति भी मिली। 'बाद में मिथिला के लोग भी उनसे प्रेरित होकर उनका अनुसरण करने लगे।

विद्यापति में अद्वितीय प्रतिभा थी तभी तो उन्होंने उस युग के सुसंस्कृत समाज की नाड़ी को सही-सही पकड़ा और अपनी प्रतिभा के द्वारा एक नवीन प्रकार के काव्य की आधारशिला इतनी दृढ़ता से रखी कि वह परवर्ती कवियों के लिए अनुकरणीय बन गई। उन्होंने अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए उस समय बोली जाने वाली लोकभाषा का प्रयोग किया, किंतु अपने गीतों के अतिरिक्त उसका उन्होंने कहीं अन्यत्र प्रयोग नहीं किया। उन्होंने पूर्ण विश्वास के साथ कीर्तिलता में कहा है कि–

बालचन्द विज्जावइ भासा।
दुहु नहि लागइ दुज्जन हासा॥
ओ परमेसर हर सिर सोहइ।
ई णिच्चय नाअर मन मोहइ॥

(अर्थात् बालचंद्रमा और विद्यापति की भाषा ये दोनों दुर्जनों के द्वारा उपहास के पात्र नहीं बनाए जा सकते, क्योंकि बालचंद्र तो शिव के सिर पर सुशोभित है और विद्यापति की भाषा नागर जनों के मन को निश्चित रूप से मोहित करने वाली है)। इस प्रकार विद्यापति ने अपनी भाषा को नूतन चंद्रकला के समान माना है।

विद्यापति ने अपने गीतों में मैथिली का प्रयोग इसलिए किया कि ये गीत पढ़े जाने के लिए नहीं लिखे गए, **अपितु गाये**

जाने के लिए, सुने जाने के लिए और **कंठस्थ किये जाने के लिए** लिखे गए। उनके गीतों की ख्याति और गेयता का जब प्रचार बहुत हो गया तो राजा शिवसिंह ने एक संगीतकार को नियुक्त कर विद्यापति के गीतों को संगीत में ढालकर उचित अवसरों पर राजसभा में प्रस्तुत करने का आदेश दिया। अपने गेय गीतों के कारण ही विद्यपति को 'कविकोकिल' कहा जाने लगा।

शिवसिंह और विद्यापति की घनिष्ठ मैत्री

राजा शिवसिंह के राज्यारोहण के बाद शिवसिंह युवराज बना। देवसिंह राज्य के कारण लोभाविष्ट भाइयों का विरोध झेलता हुआ शासक होने का दुष्परिणाम देखकर राज्य की ओर से विरक्त सा होने लगा। अतः शासन का काम शिवसिंह देखने लगे। वस्तुतः देवसिंह के जीवनकाल में ही शिवसिंह राजा हो गए।

दिल्ली प्रशासन ने देवसिंह को तो करदाता शासक के रूप में अपना अधीनस्थ बना लिया था किंतु युवा राजा शिवसिंह को यह स्वीकार नहीं था, इसलिए उसने कर देना बंद कर दिया। विद्यापति उनके परम घनिष्ठ मित्र थे। समय-समय पर अपने बुद्धिकौशल से उनका मार्गदर्शन किया करते थे। मिथिला राज्य से करवसूली न होने के कारण दिल्ली सम्राट् ने विशाल सेना के साथ सेनापति को मिथिलाधिपति शिवसिंह की गिरफ्तारी के लिए भेजा। इस युद्ध में शिवसिंह ने अपनी थोड़ी सेना और पराक्रम से बहुत दिनों तक तुरुष्क (तुर्क) सेना को रोका और अपने को बचाकर रखा। किंतु एक बार फिर से तुर्क सेनापति ने चारों तरफ से मिथिला को घेरकर शिवसिंह को पकड़ लिया और दिल्ली लाकर उन्हें कारागार में बंद कर दिया। **एक सिंह बलपूर्वक पिंजरे में जैसे बंद कर दिया जाता है, वही गति राजा**

शिवसिंह की हुई।

वृद्धावस्था से विपन्न पिता देवसिंह प्राणप्रिय पुत्र शिवसिंह के कारागार में बंद होने की व्यथा से, व्याकुल हो उठा। विद्यापति ने अपने प्रिय मित्र के वियोग से दुखी होकर अपनी कला और बुद्धिकौशल से शिवसिंह को राजबंधन से छुड़ाने के लिए दिल्ली की ओर प्रस्थान किया।

दिल्ली में सुलतान के सामने अपना परिचय देते हुए विद्यापति ने निवेदनपूर्वक कहा–**"मैं क्रान्तदर्शी कवि हूँ, परोक्ष वस्तु को भी प्रत्यक्ष की तरह वर्णन कर सकता हूँ।"** कौतुक और उत्सुकता के कारण दिल्ली सुल्तान ने विद्यापति की परख करने की इच्छा से, स्नान करती सुंदरी स्त्री का वर्णन करने का आदेश दिया।

महाकवि ने तुरंत मैथिली भाषा में रचित निम्नलिखित कविता सुनाई–

कामिनि करए सनाने।
हेरितहि हृदय हनए पँचबाने।।
चिकुर गरए जलधारा।
जनि मुखससि उर रोअए अँधारा।।
कुचयुग चारु चकेवा।
निअ कुल मिलिअ आनि कोन देवा।।
ते संका भुजपासे।
बाँधि धएल उड़िजाएत अकासे।।
तितल वसन तन लागे।
मुनिहुक मानस मन्मथ जागे।।

भनइ विद्यापति गावे।
गुनमति धनि पुनमत जन पावे॥

(सुंदरी स्नान कर रही है। उसे देखते ही मन में काम-वासना जागृत हो जाती है। उसके केशों से जलधारा गिर रही है, जो ऐसी प्रतीत होती है कि मानो उसके शशिमुख के डर से केशरूप अंधकार रो रहा है। सुंदरी के दोनों कुच मानो सुंदर चक्रवाक (चकवा पक्षी) हैं, जो निज कुल से मिलने के लिए अत्यंत उत्सुक हो रहे हैं। अगर वे उड़ गए तो उन्हें फिर लाकर कौन देगा, इसी आशंका से उस सुंदरी ने उन्हें (दोनों कुचों को) अपने बाहु-पाश में बाँध रखा है कि वे कहीं आकाश में उड़ न जायें। भीगा हुआ वस्त्र सुंदरी के शरीर से चिपका हुआ है, और सुंदरी की स्थिति नग्न जैसी है, जिसे देखकर मुनियों के मन में भी काम-भावना जाग उठती है। विद्यापति कवि कहते हैं कि ऐसी गुणवती कामिनी को तो पुण्यवंत व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है।)

सुलतान को इतने से ही संतुष्टि नहीं हुई। उसने लकड़ी के बने एक बड़े संदूक में विद्यापति को बंद कर, रस्सी से बाँधकर संदूक को कुएँ के बीच लटकाकर ऊपर कुएँ के पास में बैठी मुँह से गीली लकड़ी के कारण धुएँ वाली आग को फूँकती एक परम सुंदरी स्त्री का वर्णन करने का आदेश दिया। स्त्री को नहीं देखते हुए भी क्रान्तदर्शी कवि ने इस प्रकार वर्णन किया-

सजनि निहुरि फुकू आगि।
तोहर कमल भमर मोर देखन मदन उठल जागि।
जौं तोहे भामिनि भवन जएबह।
अयबह कौने बेला।

जौं एहि संकट सौं जिव बांचत
होएत लोचन मेला।।

(हे सुन्दरी, तुम सिर झुकाकर मुँह से फूँककर आग जलाओ। तुम्हारे कमल जैसे सुंदर मुख को मेरे हृदय रूप भौंरे ने देखा तो मेरी सोई कामभावना मन में जागृत हो गई है। हे कामिनी, तुम अपने घर जाओगी तो फिर कब आओगी? यदि इस संकट से प्राण बचेगा तो अवश्य तुम्हें आँखों से देखूँगा)।

विद्यापति के इस वर्णन से चमत्कृत दिल्ली सुलतान ने कवि की इच्छानुसार शिवसिंह को कारागार से छोड़कर कवि को पुरस्कृत किया। प्रसन्न मन से कवि विद्यापति प्रिय सखा शिवसिंह के साथ मिथिला आए। महाराजदेवसिंह ने प्रिय पुत्र को सिर पर चूमकर आशीर्वाद दिया। राज्य में सर्वत्र खुशी की लहर छा गई। इस सिद्ध कवीश्वर विद्यापति वे मृत्यु और जरा के भय से मुक्त होकर चंद्रमा की चाँदनी की तरह संपूर्ण पृथ्वी पर फैली अपनी कीर्ति को प्राप्त किया।

महाराज देवसिंह सन् १४०२ ई. में चैत्रकृष्णषष्ठी गुरुवार को (१३२४ शकाब्द में) नब्बेवें वर्ष में गंगातट पर अपना नश्वर शरीर छोड़कर दिवंगत हो गए।

पिता के श्राद्धकर्म में लगे रहने पर ही शिवसिंह एक बार फिर जौनपुर के तुर्क सुलतान के बड़े आक्रमण का शिकार हो गए। श्राद्धकर्म के उत्तरीय को धारण किए हुए ही मिथिलानरेश शिवसिंह ने अपनी ताकतवर सेना से शत्रु सेना को ललकार दिया। सिंह से सियार की तरह पूँछ छिपाकर डरी शत्रुसेना भाग गई। महाराज शिवसिंह एक ही समय में यमराज और यवनराज से

युद्ध करके, पिता का श्राद्धसंस्कार करके युद्ध में विजयी हुए। विद्यापति ने **इस घटना का 'कीर्तिलता' में विस्तार से वर्णन किया है।**

महाराज देवसिंह के दिवंगत हो जाने पर, उसी वर्ष १४०२ ई. में शिवसिंह ने **महाराजाधिराज** की पदवी हासिल की। उन्होंने 'रूपनारायण' पदवी को प्राप्त किया जिसे उनकी प्रजा ने देकर उन्हें सम्मानित किया। उन्होंने पिता की राजधानी देवकुली से हटाकर दरभंगा में वागमती नदी के तट पर गजरथपुर को अपनी राजधानी बनाई। शिवसिंह ने तीन वर्ष नौ मास तक राज्यशासन करते हुए बड़े-बड़े तालाब खुदवाए। इसी प्रकार अनन्तकाल तक स्थायी रहकर यश प्रदान करने वाले अनेक प्रकार के प्रजा को प्रसन्नता देने वाले काम भी राजधानी मिथिला में किये। राज्यारोहण के चौथे महीने में महाराजाधिराज शिवसिंह ने गीतिकाव्य में निपुण, अभिनवजयदेव की उपाधि धारण करने वाले परम मित्र विद्यापति को 'विसपीग्राम' दान में दे दिया, जिसका निम्नलिखित दानपत्र (ताम्रपत्र) आज भी उपलब्ध है–

"स्वस्ति गजरथेत्यादि-समस्त-प्रक्रिया-विराजमान-श्रीमद्रामेश्वरी-लब्धप्रसाद-भवानी-भवभक्ति भावना-परायण-रूपनारायण-महाराजाधिराज श्रीमच्छिवसिंह देवपादाः समरविजयिनी जरैलतप्पायां विसफीग्राम-वास्तव्य-सकललोकान् भूकर्षकांश्च समाज्ञापयन्ति। विदितमस्तु भवताम्। ग्रामोऽयमस्माभिः सप्रक्रियाभि-नवजयदेव-महाराज-पण्डितठक्कुर-श्री विद्यापतिभ्यः शासनीकृत्य प्रदत्तोऽतो यूयमेतेषां वचनकरीभूय कर्षणादिकं कर्म करिष्यथ। ल. सं. २९३ श्रावणशुदिसप्तम्यां गुरौ।"

(श्रीलक्ष्मी की कृपा से पार्वती-शिव की भक्ति में रत गजरथपुर राजधानी के युद्धवीर शासक रूपनारायण महाराजाधिराज श्रीमान् शिवसिंह जी महाराज जरैलपरगना के विसफीग्रामवासी सभी नागरिकों और कृषि करने वालों को सूचित करते हैं कि यह विसफी गाँव हमने अभिनव जयदेव राजपण्डित ठाकुर श्री विद्यापति को सविधि उनके अधीन कर दान में दे दिया है। अतः आप सभी इनके आदेशका पालन कर कृषिकर्म आदि करेंगे। लक्ष्मण संवत् २९३ श्रावणशुक्ल सप्तमी गुरुवार।)

महाराजाधिराज रूपनारायण-शिवसिंह की धर्मपत्नी रूपलक्ष्मी के समान रूपवती लखिमा (लक्ष्मणा) देवी भी थी। वह परम विदुषी और उच्चकोटि की कवयित्री भी थी। उनके द्वारा रचित कविताएँ आज भी उपलब्ध हैं। महाराज शिवसिंह के युग में ही महाकवि विद्यापति की मिथिलाभाषामयी सरस कोमल पदों वाली कविता, अमृतधारा की तरह रसधार बहाती हुई, केवल राजमहल को ही नहीं, संपूर्ण लोकमन को आनन्दमय कर रही थी। शिवसिंह के बहाने माधव (कृष्ण) का और लखिमा के बहाने राधा का वर्णन कर समस्त दिशाओं में **प्रसिद्ध कोयल के मीठे स्वर जैसे मीठे राग से रसिकों को मोहित करती विद्यापति की पदावली** (गीतमाला) आज भी लोगों के कंठ में विराजती है।

विद्यापति की आनंददायिनी कविताधारा लखिमा देवी और शिवसिंह के जीवनकाल १४०६ ई. तक प्रवहमान थी। शिवसिंह महाराज के शासन समाप्त हो जाने पर विद्यापति की कविता भक्ति-शान्त-रस से पूर्ण मंदाकिनी के प्रवाह की तरह बहने लगी। उनकी कविता ने मिथिला को रसास्वादन कराती हुई,

बंगाल-ओडीसा-कामरूप-नेपाल की धरती के रसिकों को ही नहीं बल्कि महाप्रभु चैतन्यदेव-शंकरदेव-माधवदेव आदि भक्त शिरोमणियों को भी भक्तिरस में सराबोर कर दिया।

समय बीतता गया और तुर्कशासन की अधीनता को कठिनता से सहन करते महाराज शिवसिंह ने अनेक युद्धों में बार-बार शत्रुसेना को परास्त किया। तथापि १४०६ ई. में तुर्क शासक नासिरुद्दीन महमूदशाह ने मिथिला को चारों ओर से अपनी सेना से घेर लिया। उस अवसर पर महाराज शिवसिंह ने विद्यापति से विचार करके, लखिमादेवी महारानी तथा अन्य पारिवारिक सदस्यों को राजवनौली ग्राम में रह रहे द्रोणवार राजा पुरादित्य नामक मित्र के पास भेज दिया और स्वयं तुर्क सेना से युद्ध करने के लिए तैयार हो गए। यथाशक्ति लड़ते हुए भी शिवसिंह युद्ध का परिणाम अच्छा न जानकर स्वयं नेपाल की गुफाओं की ओर भाग गए। बहुत जगह खोज करने पर भी शिवसिंह की कोई सूचना नहीं मिलने पर महारानी लखिमादेवी ने दिल्ली सम्राट की आज्ञा से पति की प्रतीक्षा में बारह वर्ष तक, पति के छोटे भाई पद्मसिंह के सहयोग से किसी प्रकार मिथिला पर शासन किया। बारह वर्ष बीतने पर पति शिवसिंह देव का एक कृत्रिम पर्ण-शव बनाकर उसका अंतिम संस्कार सहित अन्त्येष्टिक्रिया करके स्वयं भी दिवंगत हो गई। भाई के निधन से शोकाकुल पद्मसिंह किसी प्रकार दो वर्ष तक राज्यशासन करके दिवंगत हो गए।

सन् १४२० ई. से पद्मसिंह की रानी विश्वासदेवी प्रजा का विश्वास प्राप्त कर दिल्ली सम्राट को भरोसे में लेकर १४३२ ई. तक शासन करती रही। उसकी कोई संतान नहीं थी, अतः भवसिंह का पौत्र हरसिंह का पुत्र दर्पनारायण राजा बना और उसने

१४३२ ई. से १४५० ई. तक मिथिला पर शासन किया।

महाराज कीर्तिसिंह से लेकर महाराज भैरवसिंह तक देवसिंह-कीर्तिसिंह-शिवसिंह-लखिमादेवी-पद्मसिंह-विश्वासदेवी-नरसिंह-धीरसिंह-भैरवसिंह पर्यन्त महाराजाओं के राज्यकाल में महाकवि विद्यापति ने राज्याश्रय पाकर विविध ग्रंथों की रचना की। अतएव इन राजाओं का शासनकाल यहाँ देना अपेक्षित था।

विद्यापति की शिवोपासना

विद्यापति स्मार्त थे और स्मृति के अनुसार सूर्य, गणपति, अग्नि (विष्णु) दुर्गा और शिव इन पाँचों देवताओं की उपासना आवश्यक है। विद्यापति ने इन समस्त देवताओं की अपनी रचनाओं में यथावसर स्तुतियाँ की है।

आध्यात्मिक जीवन में विद्यापति परम वैष्णव होते हुए भी अद्वितीय शैव और शाक्त थे। विद्यापति के पिता शैव थे। कपिलेश्वर शिव की उपासना के बाद ही उन्होंने यह पुत्ररत्न प्राप्त किया थां इस कारण विद्यापति का शैव होना स्वाभाविक है। विसपी गाँव के उत्तर 'मेड़वा' गाँव में वाणेश्वर महादेव हैं। कहते हैं विद्यापति इन्हीं महादेव की उपासना किया करतें थे। विद्यापति ने गणेश्वर महादेव की स्थापना की थी, जो आज भी विद्यमान हैं।

विद्यापति के आश्रयदाता राजा शैव थे। विद्यापति की चिता पर अभी भी शिवमंदिर विद्यमान है।

विद्यापति-रचित 'महेशबानी' लोकप्रसिद्ध है। मिथिला के शिवमंदिरों में शिवरात्रि आदि शिवपर्वों पर ये पद गाए जाते हैं जिनमें शिव की प्रार्थना, पार्वती-विवाह, विवाह के समय मेनका

की उदासीनता, शिव के लिए गौरी की उत्सुकता आदि का वर्णन है। विद्यापति ने शिवपूजा के विषय में 'शैवसर्वस्वसार', शिवजटावलंबिनी गंगा के विषय में 'गंगावाक्यावली' और पार्वती (दुर्गा) की पूजा के विषय में 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' की रचना।

विद्यापति ने शिव को अपना इष्टदेव बनाया तो शाक्तमत के प्रभाव के कारण केवल शिव को इष्टदेव न रखकर युगलमूर्ति गौरीशंकर को इष्टदेव बनाया।

कहते हैं कि विद्यापति की अनन्य भक्ति और कवितामाधुर्य पर मुग्ध होकर आशुतोष भगवान् शंकर स्वयं 'उगना' रूप में महाकवि के सेवक बन गए थे। इस संबंध में एक कथा बहुश्रुत है कि महाकवि विद्यापति को एक दिन घनघोर निर्जन वन में, राजदरबार जाते समय, प्यास लगी। उन्होंने उगना से कहा– "रे उगना मुझे बड़ी प्यास लगी है। इस वनप्रदेश में तो कोई कुआँ या तालाब है नहीं, अब क्या करें।" सुनते ही उगना बोल पड़ा– "हाँ, गुरूजी, मुझे तो कुआँ मालूम है, अभी मैं पानी भरकर लाता हूँ।" ये कहकर उगना लोटा-डोरी लेकर चल पड़ा। महाकवि को बड़ा आश्चर्य लगा। उन्हें ठीक से पता था कि इस निर्जन वन में कोई कुआँ नहीं है। देखना चाहिए कि उगना कहाँ से पानी लाता है। उगना को जब जो कहता हूँ, तुरंत पूरा कर देता है, इसका क्या कारण है?" ये सोचकर महाकवि झट से उठकर उगना के पीछे-पीछे चुपचाप चलने लगे। कुछ दूर जाने पर देखा कि उगना एक सघन झाड़ी में घुस गया, और अपना सिर हिलाकर जटा से जल भर रहा है। यह देखते ही महाकवि ने झपटकर आगे बढ़ उगना को हृदय से चिपका लिया। महाकवि के स्नेहाश्रु से उगना का शरीर भीग गया। उगना की चोरी पकड़ी गई तो किंकर्तव्यविमूढ़

होकर कुछ समय के बाद बोला– "महाकवि, अब हम जाते हैं।" ये सुनते ही महाकवि खूब जोर-जोर से रोते उगना के सिर को पोछने लगे। तब ब्रह्माण्डनायक सदाशिवरूप में उगना ने महाकवि को सांत्वना देते हुए कहा–"महाकवि, यदि आप मुझे पहले की ही तरह सेवक रूप में रखें और यह बात किसी से न कहें तो मैं 'उगना' रूप में रह सकता हूँ। पर याद रहे कि, जभी यह बात किसी से कहेंगे, तभी मैं अदृश्य हो जाऊँगा।"

यह सुन, गदगद होकर महाकवि ने बार-बार शिव को हृदय से लगाकर 'तथास्तु' कहकर, उगना के हाथ का गंगाजल पिया। उस दिन से महाकवि बड़े भक्तिभाव से मन ही मन 'उगना' की स्तुति करते महादेव की नचारी (भक्ति-गीत) गाने लगे। उधर ब्रह्मांडनायक उगना भी निःशंक हो हँस-हँस कर बिना आदेश के ही महाकवि की मनोगत आवश्यकता की पूर्ति में तत्पर रहने लगे।

महाकवि की धर्मपत्नी उगना को पुत्र से बढ़कर मानती थी। माता जी के आज्ञा-पालन में उगना भी हमेशा सतर्क रहते थे। एक दिन उगना को धतूरे का फल खाता देख माता जी बोली, "जा रे, उगना तू हमेशा दरिद्र ही रह गया। धत, कैसे थे तेरे माँ-बाप जो पढ़ाया लिखाया नहीं। अरे मूर्ख। धतूरा तो महादेव को चढ़ता है, इसे तो बैल भी नहीं खाता। तू तो बैल से भी बदतर है– महादेव का बसहा हो गया?"

महाकवि उगना को मिल रही फटकार सुन-सुन कर मन मसोस कर रह गए। पत्नी को मना करते तो उगना ने का पक्षपाती कहकर और झिझक उठती। महाकवि की विकलता देख उस दिन उगना खुद ही वहाँ हट गया।

महाकवि का अंतिम समय अब नजदीक आ रहा था, इसलिए उगना ने महाकवि से पहले ही प्रस्थान करना चाहते थे। एक दिन उगना, रसोईघर में माता जी को बहुत नाराज कर दिया। माता जी अधिक उग्र स्वभाव की थी इसलिए गुस्से में धधकती लकड़ी से उगना को मारने लगी। माताजी का यह कुकृत्य देखकर महाकवि अचानक आवेश में आकर बोल उठे– अरे दुष्टा, तुम किसको मार रही हो, उगना तो ब्रह्माण्डनायक हमारे इष्टदेव भगवान् शंकर..........? बस महाकवि के मुँह से इतना निकलते ही उगना विलुप्त हो गए। महाकवि भावविभोर हो गाने लगे–

उगना रे मोर कतय गेला।
कतय गेला सिव किदहुँ भेला।।
भाङ नहि बटुआ रुसि बैसलाह।
जेहि हेरि आनि देल हँसि उठला।।
जो मोर कहता उगना उदेस।
ताहि देव हम कर–कगना भेस।।
नन्दन बन में भेटल महेस।
गौरि मन हरसित मेटल कलेस।।
'विद्यापति' भन उगन सों काजा।
नहि हितकर मोर त्रिभुवनराजा।।

(अरे, मेरे उगना कहाँ चले गए? मेरे आराध्य शिव कहाँ गए, क्या हो गए! बटुआ में भांग नहीं देखने (मिलने) पर रूठ गए, जब खोज कर ले आए तो हँसने लगे। जो मुझे उगना के बारे में बता देगा उसे मैं सोने का कंगन दूँगा। नंदन वन में उगनारूप शिव मिले, तो पार्वती का मन प्रसन्न हुआ और सब कष्ट दूर हो गए। विद्यापति कवि कहते हैं कि मुझे उगना से ही काम है, न

कि त्रिभुवन के राज्य से।) यह गीत आज मिथिला-वासियों के कंठ में गूँजता रहता है। भक्त विद्यापति शिव के शरण में जाकर अपने दुखों को दूर करने की प्रार्थना करते हैं और विह्वल होकर निम्नलिखित गीत गाते हैं–

कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ।
दुखहि जनम मेल दुखहि गमाओल
सुख सपनेहु नहि भेल हे भोलानाथ।
अछत, चानन, अबर, गंगाजल,
बेलपात तोहि देव, हे भोलानाथ।
एहि भवसागर थाह कतहु नहि,
भैरव धरु कर आए, हे भोलानाथ।
भन 'विद्यापति' मोर भोलानाथ गति,
देहु अभय बर मोहि, हे भोलानाथ।

(हे भोलानाथ, आप कब मेरे दुखों को दूर करेंगे। दुखों में ही मेरा जन्म हुआ और दुखों में ही मेरी आयु बीती जा रही है। हे भोलानाथ मैंने तो सपने में भी सुख नहीं देखा! हे भोलानाथ अब तो मैं अक्षत, चंदन, गंगाजल, बिल्वपत्र आदि लेकर तुम्हारी शरण में आ गया हूँ। इस संसाररूपी सागर में मुझे कहीं भी थाह नहीं मिली। हे भैरव, अब आप ही मेरे हाथ को पकड़कर पार उतारें। कविवर विद्यापति कहते हैं कि हे भोलानाथ, आप ही मेरी गति हैं, अब आप ही मुझे अभय दान दीजिए।) यह गीत भी आज मिथिलावासियों को भावातिरेक में विह्वल बनाए रहता है। विद्यापति के शिवगीत बहुत लोकप्रिय हैं। पार्वती से शिव के विवाह का वर्णन करने वाले गीत एक विशेष धुन पर मिथिला

की स्त्रियाँ गाती हैं, शिवभक्ति से संबंधित अनेक गीत एक विशेष धुन पर शिवभक्त डमरू बजाकर नाचते हुए गाते हैं, जिन्हें नचारी कहते हैं। नचारी की विशेषता उसकी विषयवस्तु नहीं बल्कि उसकी विशिष्ट धुन है। मिथिला प्रायः शैव क्षेत्र है और शाक्तजन भी शिव का सम्मान करते हैं। यह सत्य है कि विद्यापति भावनात्मक रूप से शिवरूप में परमेश्वर की आराधना करते थे, किंतु परंपरा के अनुसार वे प्रत्येक स्मार्त मैथिल के समान पंचदेवोपासक थे। सभी हिन्दू देवताओं में शिव ही एक ऐसे देवता हैं जिनकी भक्ति और पूजा ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक हर जाति के स्त्री–पुरुषों के लिए शास्त्रसम्मत है। शिवभक्ति के गीत लिंग, जाति की अपेक्षा के बिना सर्वसाधारण स्त्री–पुरुषों को प्रभावित करते हैं। विद्यापति ने इसीलिए इन गीतों को लिखा।

विद्यापति को भक्त या शृंगारी कवि मानने में भी अनेक मत हैं। राधाकृष्ण की पदावली के माध्यम से उन्होंने जीवात्मा परमात्मा की ओर संकेत किया है। राधा और कृष्ण की लीला के माध्यम से जीव और ईश्वर के संयोग की बात की गई है। वंशी की ध्वनि में अदृश्य सत्ता का स्वर है, जीव को परमात्मा की ओर अग्रसर होने का आमंत्रण है।

विद्यापति को शृंगारी कवि मानने वाले कहते हैं कि विद्यापति की पदावली शृंगार रस प्रधान 'आर्यासप्तशती' आदि ग्रंथों के आधार पर रची गई। विद्यापति के पदों को सुनकर महाप्रभु चैतन्यदेव के मूर्च्छित हो जाने के कारण राधाकृष्ण का नाम ही है। राधा या कृष्ण के वर्णन में विद्यापति ने राधाकृष्ण को नायिका और नायक माना है।

अतः जनसामान्य में विद्यापति को जो ख्याति मिली,

आदर मिला वह भक्त कवि के रूप में ही मिला, शृंगारी कवि के रूप में नहीं। विद्यापति ने स्वयं एक पद में शिव और विष्णु में कोई तात्त्विक भेद नहीं माना है। अतः राधा कृष्ण या विष्णु के वर्णन के माध्यम से शिव पार्वती की भक्ति का आश्रय उन्होंने लिया है।

द्रष्टव्य है यह पद–

भल हर भल हरि तुअ कला
खन पित वसन खनहि वघछला।
खन पंचानन खन भुज चारि।
खन संकर खन देव मुरारि।
खन गोकुल भए चराइअ गाए।
खन भिखि मांगिअ डमरू बजाए।
खन गोविंद भए लिअ महादान।
खनहि भसम भरु काँख बो कान।
एक सरीर लेल दुइ बास।
खन बैकुंठ, खनहि कैलास।
भनइ 'विद्यापति' विपरीत बानि।
ओ नारायन ओ सुलपानि।।

(हे शिव तुम अच्छे हो, हे विष्णु तुम भी अच्छे हो। और तुम्हारी कला भी उत्तम है। एक क्षण में ही तुम पीतांबरधारी बन जाते हो और दूसरे क्षण में ही व्याघ्रचर्म को धारण करने वाले बनते हो। क्षण में पाँच मुखों वाले, और क्षण में चार भुजाओं वाले बन जाते हो। पल में कृष्ण बनकर गोकुल में गायें चराने लगते हो और पल में ही शिव के रूप में डमरू बजाकर भिक्षा माँगने लगते हो। क्षण में ही गोविंद बनकर गोपियों से महादान की याचना

करते हो और क्षण में ही बगलों और कानों में भस्म लगाने लगते हो। तुम्हारा शरीर तो एक है लेकिन उसका निवास दो स्थानों पर है। एक क्षण में वह बैकुंठ में दिखाई देता है तो दूसरे क्षण में कैलास पर्वत पर। कवि विद्यापति विपरीत बात कहते हैं कि एक नारायण है तो दूसरा त्रिशूल को धारण करने वाला महादेव है।)

इस पद से विद्यापति ने शिव और विष्णु में कोई तात्त्विक भेद नहीं माना है।

विवाह और संतान

कहते हैं कि विद्यापति ने दो विवाह किए थे। उनकी पहली पत्नी से दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। और दूसरी पत्नी से एक पुत्र और दो पुत्रियाँ। उनका सबसे बड़ा बेटा हरपति ठाकुर किसी परवर्ती ओइनवार राजा के यहाँ मुद्रा-काष्टक था और उसने ज्योतिष पर 'दैवज्ञ बांधव' नामक एक ग्रंथ लिखा। विद्यापति के वंशज आज भी जीवित हैं और मधुबनी के पास सौराठ में रहते हैं। 'सौराठ' मिथिला का वह प्रसिद्ध स्थान है जहाँ **प्रतिवर्ष एक विवाह-सभा का आयोजन आज भी होता है**। भारत में एकमात्र यह प्रसिद्ध स्थान है जहाँ लाखों मिथिलावासी अपने पुत्र वरों के विवाहार्थ उपस्थित होते हैं और वरान्वेषी कन्या के पिता वहाँ जाकर वरों का चयन करते हैं– विवाह तय करते हैं। आज सौराठ में विद्यापति के सोलहवीं पीढ़ी के वंशज रहते हैं, जो प्रायः उनकी पहली पत्नी की तीन बेटियों से हैं।

देहावसान

लक्ष्मणसंवत् २९३ (सन् १४१२ ई. में) शिवसिंह का राज्याभिषेक हुआ। उस समय चैत्र का महीना था। शिवसिंह ने

तीन वर्ष और नौ महीने तक राज्य किया (सन् १४१५ ई. के पूस महीने तक) उनकी मृत्यु के ३२ वर्ष बाद (सन् १४४७ ई. के) माघ-फागुन महीने में विद्यापति ने शिवसिंह को स्वप्न में देखा। स्वप्नपुराण में निर्दिष्ट है कि स्वप्नों का फल कब मिलता है।

रात के पहले पहर में देखा हुआ स्वप्न एक वर्ष में फल देता है, दूसरे पहर में देखा गया स्वप्न आठ महीनों में, तीसरे पहर में देखा स्वप्न तीन महीनों में और चौथे पहर में देखा गया स्वप्न पंद्रह दिनों में फल देता है।

(स्वप्नस्तु प्रथमे यामे संवत्सरफलप्रदः
द्वितीये चाष्टभिर्मासैस्त्रिभिर्मासैस्तृतीयके
चतुर्थे चादर्धमासेन स्वप्नः स्यात्तु फलप्रदः)

रात के पहले पहर में देखा हुआ स्वप्न एक वर्ष के अंदर ही फलित हो गया। यह भी जनश्रुति है कि अपने पिता या अतिशय प्रिय व्यक्ति को स्वप्न में देखने पर व्यक्ति की मृत्यु का समय आसन्न होता है।

वैसे भी विद्यापति महाराज शिवसिंह के अन्तर्हित हो जाने के बाद मातृभूमि की अराजकता से व्यथित थे और महारानी लखिमा देवी के सती होने से और दुखी हो गए थे। वृद्धावस्था भी आ गई थी, ऐसे समय में उन्होंने अधिकांश निर्वेद-भाव से पूर्ण मैथिली के पद और संस्कृत की धार्मिक रचनाएँ की। विद्यापति प्रसिद्ध शिवभक्त थे, उन्हें अपनी मृत्यु की निकटता का आभास शिवसिंह को स्वप्न में देखने के कारण हो गया था।

महाराज शिवसिंह की मृत्यु के पश्चात् ३२ वर्ष बाद सन् १४५० ई. में कवि ने शिवसिंह को स्वप्न में देखा था और उसी

वर्ष कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी तिथि को उन्होंने अपना वृद्ध शरीर त्यागा। कवि ने अपनी एक कविता में स्वयं लिखा है–

सपन देखल हम शिवसिंह भूप।
बतिस बरस पर सामर रूप॥
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन।
आव भेलहुँ हम आयुविहीन॥

अपना मृत्यु निकट जानकर पूरे परिवार से विदा लेकर कवि भगवती भागीरथी के पवित्र तट पर अपना शरीर–त्याग करने के लिए खरखरिया (डोली) में बैठकर मुक्ति की कामना से, गंगा तट की ओर चल दिए। जाते–जाते जब काफी समय बीत गया और गंगाजी लगभग दो कोस आगे थीं तो उन्हें आभास हुआ कि उनका अंतिम समय आ गया। कवि झट से बोल उठे "अरे जब हम इतनी दूर आ गए हैं तो क्या हमारे इष्टदेवता उगना की गंगाजी यहाँ तक नहीं आ सकती है।' कहकर विद्यापति गंगाधर उगना की नचारी गाने लगे। फिर क्या था डमरू के शब्द की तरह गरजती हुई भगवती भागीरथी धरती को चीरती हुई महाकवि के पास पहुँच गयी और महाकवि गंगा में सदेह समा गए।

कहते हैं कि गंगाजी के प्रकट होते ही विद्यापति ने उनसे क्षमा याचना करते हुए साश्रुनयन यह गीत गाकर उनकी स्तुति की।

बड़ सुख सार पाओल तुअ तीरे।
छोड़इत निकट नयन बह नीरे॥
कर जोरि विनमओ विमल तरंगे।
पुन दरसन होए पुनमति गंगे॥
एक अपराध छेमब मोर जानी।

परसल माय पाए तुअ पानी।।
की करब जप-तप जोग धेआने।
जनम कृतारथ एकहि सनाने।।
भनइ विद्यापति समदओ तोही।
अन्तकाल जनु बिसरह मोही।।

(हे गंगे माँ, मैंने तुम्हारे तट पर महान सुख का सार पा लिया है। तुम्हारी निकटता छोड़ते ही मेरी आँखों से आँसू निकलने लगते हैं। हे निर्मल तरंगों वाली, पुण्यमती गंगे, मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि मुझे तुम्हारा दर्शन फिर हो। हे गंगा मैया, मेरा एक अपराध तुम जानकर भी क्षमा कर देना कि मैंने तुम्हारे पवित्र जल को पैर से छुआ है। मैं अब और अधिक जप-तप, ध्यान करके क्या करूँगा, क्योंकि तुम्हारे जल में एक ही स्नान से जन्म कृतार्थ हो गया। कविवर विद्यापति कहते हैं कि मैं बार-बार कहता हूँ कि, अंत में आप मुझे नहीं भुलाना।)

इस प्रकार कवि के प्रार्थना स्वर सुनते ही भगवती गंगा ने, सभी एकत्रित लोगों के समक्ष ही, कविवर को कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी तिथि को अपने में समाविष्ट कर लिया।

तीर्थरूप में प्रसिद्ध विद्यापति का यह अवसानस्थल पूर्वोत्तर रेलमार्ग पर हाजीपुर-बछवारा खंड के बीच 'विद्यापतिनगर' नामक स्टेशन आज भी मिथिला का एक पवित्र स्थल माना जाता है। यहाँ विद्यापति की चिताभूमि पर महादेव का एक पुराना मंदिर है जहाँ प्रतिवर्ष कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को बड़ा मेला लगता है।

विद्यापति ने गंगातट पर अपनी अंतिम साँस लेकर जीवन

के चौथे लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर लिया। उनका जीवन पूर्णत्व लिए हुए था। वस्तुतः उनका जीवन एक सार्थक जीवन था जो चारों पुरुषार्थों के प्राप्त हो जाने से सफल हो गया था।

विद्यापति अपनी जीवितावस्था में ही अत्यंत लोकप्रिय और प्रसिद्ध हो गए थे। वे अपनी कवित्व प्रतिभा के कारण अनेक उपाधि-उपनाम से अलंकृत किए गए। उनकी उपाधि-उपनामों में प्रसिद्ध हैं– अभिनवजयदेव, महाराजमंडित, सुकविकंठहार, सरसकवि, कविवर कविकण्ठहार, सुकवि, नवजयदेव, कविकोकिल आदि। अभिनव जयदेव की उपाधि तो विसपी के दानपत्र में है।

विद्यापति की रचनाएँ

विद्यापति एक गीतकार के रूप में अमर हैं। उन्होंने अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए उस समय मिथिला में बोली जाने वाली लोक-भाषा मैथिली का प्रयोग तो किया, किंतु केवल अपने गीतों में। ये गीत उन्होंने पढ़े जाने के लिए नहीं लिखे बल्कि, गाये जाने के लिए, सुने जाने के लिए और कंठस्थ किये जाने के लिए लिखे।

विद्यापति के गीतों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है और प्रत्येक की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। भाषा, इन तीनों में एक समान वह भाषा है, जो उस समय मिथिला में स्त्री-पुरुषों द्वारा बोली जाती थी। विद्यापति के गीतों में सर्वाधिक लोकप्रिय गीत वे हैं, जो सदियों से प्रचलित हैं और विद्यापति को मिथिला की स्त्रियों के कंठ में जीवित बनाये रखा है। मिथिला में किसी भी शुभकार्य के प्रारंभ में कुलदेवता का मंगलाचरण करने के लिए तथा अन्य सामाजिक कार्यों, उत्सवों में गाए जाने के लिए ये गीत अत्यंत उपयोगी हैं।

दूसरे प्रकार के गीतों में शिव का विवाह और पारिवारिक जीवन का वर्णन करने वाले शिवभक्ति से संबंधित गीत हैं। 'नचारी' नामक ये नए प्रकार के गीत अत्यंत लोकप्रिय और विख्यात हुए हैं। शिवभक्तों द्वारा शिव की आराधना और शिव-मंदिर में गाए जाने वाले ये गीत आज भी मिथिलावासियों में जब-तब सुने जा सकते हैं।

तीसरे प्रकार के वे गीत हैं जिनमें श्रृंगार के विभिन्न रूपों, भावों का चित्रण हुआ है। ये गीत प्रायः कृष्ण और गोपियों से तथा सामान्य नर-नारियों से संबंधित हैं। गीत, मिथिला के जन-जीवन के अभिन्न अंग हैं एवं धार्मिक, सामाजिक, सामयिक उत्सवों में विशेष धुनों वाले गीत गाए जाते हैं।

विद्यापति ने संस्कृत के महाकवि जयदेव द्वारा दो सौ वर्ष पूर्व स्वीकार की गयी रचनाविधि को स्वीकार कर तत्कालीन लोकभाषा मैथिली में वैसी ही रचना की। हाँ, विद्यापति के गीतों का विषयवस्तु, रीति आदि के साथ लौकिक संस्कृत काव्य से लिया गया था। आधुनिकीकरण में वे जयदेव से भी श्रेष्ठ सिद्ध हुए। इस रचनाधारा के माध्यम से विद्यापति ने संस्कृत-काव्य का आनंद संस्कृत नहीं जानने वालों के लिए भी सुलभ करा दिया। विद्यापति की रचनाओं में ध्वनि और अर्थ दोनों सामान्य जन को प्रभावित करते हैं, न कि केवल ध्वनि। यही कारण था कि विद्यापति को 'अभिनव जयदेव' माना गया, क्योंकि जयदेव ने केवल ध्वनितत्व को लोकप्रिय बनाया जबकि विद्यापति ने ध्वनि और अर्थ दोनों को।

विद्यापति के रचनात्मक प्रभाव से बंगाल के महान् कवि भी प्रेरित हुए और बांगला साहित्य का संवर्धन हुआ। मिथिला

और बंगाल में सांस्कृतिक संबंध था, और बंगाल के विद्वान् अपना ज्ञान बढ़ाने के लिए तथा परिष्कृत करने के लिए मिथिला आया करते थे। यहाँ वे विद्यापति के गीतों से इतना प्रभावित होते कि इन सुरीले गीतों का प्रचार बंगाल में होने लगा। विद्यापति के ये गीत चैतन्य-सम्प्रदाय के भक्तिगीत बन गए और विद्यापति को वैष्णव-संप्रदाय का प्रवर्तक माना जाने लगा। चैतन्य संप्रदाय का प्रमुख अंग 'कीर्तन' था, और विद्यापति की शैली पर इन कवियों ने नये गीत रचना आरंभ किया। यत्र-तत्र विद्यापति की मैथिली भाषा का भी कवियों ने अनुसरण किया, यद्यपि वे शुद्ध मैथिली में नहीं लिख सकते थे। अतः उनकी भाषा में मैथिली और बांगला का मिश्रण था। यही मिश्रित भाषा '**ब्रजबुलि**' के नाम से जानी जाने लगी। महाकवि चैतन्यदेव ने भी विद्यापति को आदर्श मानकर 'ब्रजबुलि' को अपनी काव्य-रचना का भाषा मान लिया। चैतन्यदेव के इस ब्रजबुलि भाषा की काव्य-रचना का संप्रदाय ओड़ीसा, असम और ब्रजभूमि तक फैला और विद्यापति भी दिव्य प्रेम के प्रवर्तक माने जाने लगे। बंगाल में उनका सम्मान भक्ति-रचनाकार के रूप में होने लगा। यहाँ तक कि लोग उन्हें बंगाली समझने लगे और अपने गीतों के अंत में उनके नाम का उपयोग करने लगे।

भारतीय साहित्य में 'ब्रजबुलि' का विशाल साहित्य उपलब्ध है। ब्रजबुलि मिथिला की वह भाषा मानी गई है, जो मिथिला में जन्म नहीं लेने वाले लोगों द्वारा प्रयुक्त थी, जिसकी प्रेरणा देने वाले विद्यापति के प्रेम गीत थे। विद्यापति से प्रभावित होकर कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी 'भानुसिंहेर पदावली' की रचना की। यह भी उल्लेखनीय है कि विद्यापति से प्रभावित होकर **असम में**

शंकरदेव और माधवदेव ने मैथिली में लिखा और मनोरंजक नाटकों की सर्वसामान्य भाषा में रचना कर वैष्णव-मत का प्रचार किया। विद्यापति द्वारा स्थापित प्रतिमान का अनुसरण कर परवर्ती समय में भी कवियों ने उनसे प्रेरणा ली थी। इस प्रकार यह स्पष्टत: कहा जा सकता है कि विद्यापति की प्रतिभा का प्रभाव मिथिला के अतिरिक्त बंगाल, असम आदि प्रांतों में भी था।

संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ठ और मैथिली भाषाओं में समान रूप से भावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ विद्यापति ने निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की, जिनका परिचय संक्षेप में दिया जा रहा है।

संस्कृत ग्रन्थ

१. भूपरिक्रमा

यह ग्रन्थ भारत के भौगोलिक दृष्टि से विशिष्ट स्थानों का परिचय प्रस्तुत करता है। **महाराज देवसिंह** जब राय गणेश्वर की मृत्यु के पश्चात् राज्यभ्रष्ट हो गए और नैमिषारण्य में रहने लगे तो विद्यापति ने उनकी आज्ञा से इस ग्रन्थ की रचना की।

एक बार श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलदेव ने नैमिषारण्य में अग्निपुराण के प्रवक्ता मुनिश्रेष्ठ सूत को किसी कारण से क्रुद्ध होकर मार दिया। इस ब्रह्महत्या के महापातक से दुखी होकर बलदेव मुनियों के शरण में गए। महर्षि धौम्य ने उन्हें पृथिवी की प्रदक्षिणा करने का आदेश दिया। **बलदेव की 'भूपरिक्रमा' का वृत्तान्त इस ग्रन्थ में है।**

नैमिषारण्य से चलकर बलदेव द्रुपददेश गए, जहाँ महामाया काली की पूजा करके, अपने को पवित्र कर, गंगातट के पास पृथु की राजधानी आकर वहाँ तीन दिन तक रहे। वहीं शातनीपुर में त्रिभुवनेश्वरी भैरवी की विधि विधानपूर्वक पूजा की। तदुपरान्त कालकाठक में द्रुपद नरेश के शस्त्रागार तथा अन्य वेणुपुर, किंशुक कानन आदि स्थानों को देखकर मालवराज भानुमन्त के काष्ठाग्राम में निवास कर रहे धौम्यमुनि के पास आए। मुनि के मार्ग निर्देशन और उपदेश के अनुसार वहाँ से विदा होकर विभिन्न तीर्थस्थानों में भ्रमण करते हुए बलदेव जनकदेश में आ गए। वहाँ धौम्य मुनि ने उनके मनोविनोद के लिए मनोहर कथा सुनाई।

इस प्रकार 'भूपरिक्रमा' ग्रन्थ में नेमिदेश, ब्रह्मावर्त, प्रयाग, काशी, सिद्धदेश, नृसिंह देश, जनकदेश आदि सात देशों का विवरण मिलता है। कथा कहने के क्रम में नेमिदेश विवरण में दानवीरकथा, ब्रह्मवर्त के विवरण में दयावीरकथा, प्रयाग के विवरण में युद्धवीरकथा काशीक्षेत्र के विवरण में सत्यवीरकथा और चौरकथा, सिद्ध देश के विवरण में भीरुकथा, नृसिंह देश के विवरण में कृपण कथा, जनक देश के विवरण में अलसकथा ये आठ कथाएँ वर्णित हैं। ये सभी कथाएँ महाकवि विद्यापति ने अपनी 'पुरुष परीक्षा' नामक ग्रन्थ में भी कही हैं।

इस ग्रन्थ की रचना के समय पैंसठ देशों की पैंसठ कथाओं का चार खण्डों में वर्णन करने की विद्यापति की योजना थी। किन्तु एक ही खण्ड में सात देशों की आठ कथाओं का वर्णन करके महाकवि ने ग्रन्थ का समापन कर दिया। कहते हैं कि १४०२ ई. में महाराज देवसिंह के दिवंगत हो जाने से प्रधान श्रोता के नहीं रहने से इस ग्रन्थ की लेख-योजना ही रुक गयी।

महाकवि विद्यापति रचित संस्कृत ग्रन्थों में प्रथम इस ग्रंथ में सरल और प्रसाद गुणमयी, संस्कृतभाषा सहज ही पाठकों के मन को भा जाती है।

२. पुरुषपरीक्षा

पञ्चतन्त्र, हितोपदेश आदि परंपरा की यह संस्कृत नीतिकथा का ग्रन्थ है। महाकवि विद्यापति ने महाराज देवसिंह की जीवनावस्था में ही, महाराज शिवसिंह के आदेश से दण्डनीति संबंधी इस ग्रंथ की रचना की। इस ग्रन्थ का रचनाकाल चौदहवीं सदी के अन्त का समय माना जाता है। इसमें विद्यापति ने वास्तविक पुरुष की परिभाषा इस प्रकार दी है–

वीरः सुधीः सविद्यश्च पुरुषः पुरुषार्थवान्।
तदन्ये पुरुषाकाराः पशवः पुच्छवर्जिताः॥

(दयावीर, सुधी, सविद्य (विद्वान्) और पुरुषार्थी ही वास्तविक पुरुष होते हैं। इसके अलावा तो पुरुष के आकार में पूँछरहित पशु ही हैं।)

वीरों के वर्णन क्रम में महाकवि ने दानवीर, दयावीर, युद्धवीर और सत्यवीर के रूप में वीरों के चार भेद बताते हुए चार वीरों के नाम भी दिए हैं। जैसे–

दानवीरो हरिश्चन्द्रो, दयावीर– शिविर्नृपः।
युद्धवीरो भवेत् पार्थः, सत्यवीरो युधिष्ठिरः॥

(दानवीर हरिश्चन्द्र, दयावीर राजा शिवि, युद्धवीर अर्जुन, और सत्यवीर युधिष्ठिर आदि संसार में सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं।)

चार परिच्छेदों में रचित ग्रन्थ 'पुरुष परीक्षा' में कुल चौवालीस कथाएँ हैं, जो उत्तम-मध्यम-अधम-प्रकृति के मनुष्यों

तथा सदाचार, दुराचार आदि क्रियाकलापों का सजीव वर्णन प्रस्तुत करती हैं। इस ग्रन्थ के परिशीलन से लोग व्यवहारपटुता की प्रेरणा लेते हैं।

३. शैवसर्वस्वसार

यह ग्रन्थ शिवपूजा के विधि-विधान पर रचित है। राजा शिवसिंह को अन्तर्हित जानकर मुस्लिम शासक ने उनके भाई पद्मसिंह को बुलाकर मिथिला राज्य का शासन चलाने का आदेश दिया। कोई अन्य उपाय न जान, पद्मसिंह ने उसके आदेश का पालन कर राज्य की अधिकारिणी बड़े भाई की पत्नी लखिमादेवी को सब कुछ बताकर उनके आदेश से स्वयं राज्यशासन का भार ले लिया।

बारह वर्षों तक पति के आगमन की प्रतीक्षा करके शास्त्र नियमानुसार लखिमादेवी कुश का नरदेह बनाकर उसका अग्नि संस्कार कर स्वयं सती हो गई। तदुपरान्त १४१८ ई. में पद्मसिंह राज्यसिंहासन पर बैठ दो वर्ष तक शासन करके दिवंगत हो गए। तब उनकी पत्नी रानी विश्वासदेवी ने १४२० ई. में राज्यभार सँभाला और महाकवि विद्यापति को फिर लेखनकार्य में लगाया। रानी की आज्ञा से ही शिवभक्त महाकवि ने शैव कर्मकाण्ड से संबंधित 'शैव-सर्वस्वसार' नामक ग्रंथ की रचना की। ग्रंथ में शिवपूजा संबंधी विधि-विधान का वर्णन है।

४. शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूत-पुराणसङ्ग्रह :

महाकवि विद्यापति ने 'शैवसर्वस्वसार' ग्रन्थ रचने के समय ही 'शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूत-पुराणसङ्ग्रह' नामक ग्रन्थ भी रचा। शैवसर्वस्वसार में निबद्ध सभी विषयों के प्रमाण इस

ग्रंथ में संगृहीत किए गए हैं जो शिवाराधन से संबंधित हैं। इससे विद्यापति की श्रुति-स्मृति-पुराणेतिहास आदि की ज्ञान-निपुणता भी मालूम पड़ती है।

५. गङ्गावाक्यावली-

महारानी विश्वासदेवी की आज्ञा से महाकवि ने सन् १४२५ ई. के आस-पास 'गङ्गावाक्यावली' नामक विख्यात ग्रन्थ की रचना की। ग्रन्थ के आरंभ में महाकवि ने मंगलाचरण करते हुए कहा है कि गंगा का जल ईश्वर का द्रवीभूतरूप, सभी देवताओं का तेजः पुञ्ज और ब्रह्म का व्यक्त रूप ही है। इस ग्रंथ में गंगा के स्मरण-कीर्तन से लेकर गंगा तट पर प्राणविसर्जन तक के विधि-विधान का उल्लेख किया गया है। गङ्गा के प्रति महाकवि की अनोखी भक्ति का प्रमाण इसी से मिलता है कि उनकी हार्दिक प्रार्थना से द्रवीभूत भगवती भागीरथी ने स्वयं जीवन के अवसान के समय उनके पास आकर उन्हें अपनी गोद में शरण देकर मुक्ति प्रदान की।

६. विभागसार

महारानी विश्वासदेवी के दिवंगत हो जाने पर सन् १४३२ ई. में भवसिंह के छोटे पुत्र हरिसिंह का पुत्र दर्पनारायण नाम से प्रसिद्ध नरसिंह देव मिथिला के राजसिंहासन पर बैठा। उसी राजा का आदेश पाकर महाकवि विद्यापति ने 'विभागसार' नामक ग्रंथ की रचना की। इस ग्रन्थ में सम्पत्ति के बँटवारे तथा उससे होने वाले विवाद आदि से संबंधित निर्णय का वर्णन किया गया है।

७. दानवाक्यावली-

मिथिला के राजा नरसिंहदेव की धर्मपत्नी महारानी धीरमती

अरुन्धती के समान, दान में कल्पलता की तरह और धनधान्य के पद्मालय के समय विशिष्ट गुणवती थी। उसी की आज्ञा से महाकवि विद्यापति ने 'दानवाक्यावली' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की सन् १४३५ के आस-पास रचना की।

दान का प्रचार, विधि-विधान तथा देश, काल, पात्र और पात्र का विस्तृत वर्णन इस ग्रंथ में हुआ है। वेदोक्त सत्कर्मों में दान की श्रेष्ठता, दान से ही दान की सफलता, दान रहित धन की अनर्थकता, कलियुग में दान से ही समस्त पापों का क्षय, न्यायपूर्वक अर्जित धन के यथाविधि दान से अनन्त फल की प्राप्ति आदि विषयों का विवेचन कर इस ग्रंथ में दाता, प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, धर्मोपार्जित धन, प्रशस्त देश या स्थान, तथा प्रशस्त समय आदि दान के छह अंगों पर विचार प्रस्तुत किया गया है।

८. दुर्गाभक्तितरंगिणी

दर्पनारायण महाराज नरसिंह देव के पुत्र महाराज धीरसिंह की आज्ञा से 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' नामक ग्रन्थ की रचना महाकवि विद्यापति ने लगभग १४४० ई. में की। दो तरंग के इस ग्रन्थ में विविध विषयों का विवेचन किया गया है। प्रथम तरंग में दुर्गा पूजा का विधि-विधान, दुर्गा गृहनिर्माण, प्रतिमानिवेशन, आदि का प्रमाणसहित विशद वर्णन है, तो दूसरे तरंग में पूजा की पद्धति दी गई है। ग्रन्थारंभ में कहा गया है कि ग्रंथरचना के समय महाराज धीरसिंह और महाराज भैरवसिंह के पिता महाराज नरसिंहदेव भी जीवित थे।

९. मणिमञ्जरी

महाराज शिवसिंह के शासनकाल में महाकवि विद्यापति ने 'मणिमञ्जरी' नामक नाटिका की रचना की। इस नाटिका में

राजा चन्द्रसेन और मणिमञ्जरी की कथा का वर्णन है। इस नाटिका से ज्ञात होता है कि विद्यापति जैसे कवित्व-शक्ति (काव्यरचना) में श्रेष्ठ हैं वैसे ही नाट्यरचना में भी वे निष्णात थे।

१०. लिखनावली

राजा शिवसिंह जब मुस्लिम शासक के आक्रमण से पराभूत होकर हिमालय की गुफाओं में अन्तर्हित हो गए तो पति के आगमन की प्रतीक्षा में महारानी लखिमा देवी सप्तरी परगना के राजबनौली ग्राम में निवास कर रही थी। उसी समय लक्ष्मण सं. २९९ सन् १४०८ ई. में महाकवि विद्यापति ने गिरिनारायण पुरादित्य की आज्ञा से 'लिखनावली' ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में लिखने की परिपाटी का वर्णन किया गया है। इसमें कुल ८४ पत्र हैं। लिखनावली से तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था का परिचय मिलता है। इस दृष्टि से इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। संस्कृतभाषा में लिखित इन पत्रों से ज्ञात होता है कि विद्यापति के समय मिथिला में पत्रव्यवहार संस्कृतभाषा में ही होता था। संस्कृतभाषा लोकव्यवहार में भी प्रचलित थी।

'लिखनावली' में तत्कालीन मिथिला की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक स्थिति, कृषि-व्यवस्था, व्यापारपद्धति, राज्य की आय व्यवस्था, तथा दण्ड व्यवस्था आदि का विवरण मिलता है।

११. गयापत्तलक

इस ग्रन्थ की रचना में महाकवि ने किसी अन्य ग्रंथों की तरह आश्रयदाता राजा की आज्ञा का उल्लेख नहीं किया है। महाकवि ने जीवन के अन्तिम भाग में लोककल्याण के लिए इस

ग्रन्थ की रचना की। स्मृतिशास्त्र की उक्ति है कि–

जीवतो वाक्यकरणात्, क्षयाहे भूरि भोजनात्।
गयायां पिण्डदानाच्च, त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता।।

(पुत्र की पुत्रता तीन प्रकार से अच्छी समझी जाती है–(i) पिता के जीवित रहते उसके वचन का पालन, (ii) उसकी मृत्यु तिथि में लोगों को भोजन कराना तथा (iii) गया में पिण्डदान से)।

अतः गया में पिण्डदान के महत्त्व को बताते हुए कर्मकाण्ड प्रवीण महाकवि ने इस ग्रंथ में विस्तार से पिण्डदान और उसके फल आदि का विवरण इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया है।

१२. वर्षकृत्य

यह अल्पकाय ग्रन्थ महाकवि ने लगभग सन् १४४५ ई. में लिखा। इस ग्रन्थ में मिथिला के किसी शासक का नाम नहीं है।

संपूर्ण मिथिला में चैत्रमास से फाल्गुन मास तक प्रत्येक मास में होने वाले पर्वों में किए जाने वाले अनुष्ठानों का विधि-विधान आदि का विवरण इस ग्रंथ में दिया गया है। इसके अतिरिक्त तिथि-नक्षत्र-योग आदि के कारण समय के विवाद का भी ग्रंथ में समाधान प्रस्तुत किया गया है।

१३. व्याडिभक्तितरंगिणी

महाराज धीरसिंह और भैरवसिंह के शासन के समय में ही १४४५ ई. में महाकवि ने 'विषहरी पूजा' के विधि-विधान को बताने वाले ग्रन्थ व्याडिभक्तितरंगिणी की रचना राजा दर्पनारायण नरसिंह देव की आज्ञा से की। इस ग्रन्थ में सर्प-पूजा का विधि-विधान और पद्धति का विवरण है।

मिथिला में ब्राह्मण परिवारों में सामान्य रूप से त्रिपुरा, काली, दुर्गा, भवानी, तथा गिरिजा आदि पाँच बहन कुलदेवताओं का पूजापीठ (सीर) बनाकर प्रतिदिन उनकी पूजा की जाती है। पीठ के पास में ही विषहरी देवी का व्यालीरूपक चित्र लिखकर उनकी भी पूजा की जाती है। श्रावण मास के दोनों (कृष्ण और शुक्ल) पक्ष की पञ्चमी तिथि में विशेष रूप से नाग की पूजा की जाती है। इसी विषहरी देवी का शास्त्रीय पद्धति से पूजा का विधि-विधान इस ग्रन्थ में भी दिया गया है।

अवहट्ठ ग्रन्थ

१. कीर्त्तिलता

अपभ्रंश रूप अवहट्ठ भाषा में रचित 'कीर्त्तिलता' गद्य-पद्य मय ग्रन्थ है। इसमें महाकवि ने महाराज कीर्तिसिंह का यशोगान किया है। इसकी रचना ऐतिहासिक चरितकाव्य की परम्परा में हुई है। संस्कृत के अतिरिक्त भाषा में रचित कोई ग्रन्थ उस समय विद्वानों के बीच प्रशंसनीय नहीं माना जाता था। यह जानकर भी महाकवि ने इस ग्रन्थ में प्रयुक्त भाषा का महत्त्व बताते हुए कहा है कि–

बालचन्द विज्जावइ भासा।
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा॥
ओ परमेसर हर सिर सोहइ।
ई णिच्चय णाअर मण मोहइ॥

(बाल (नवीन) चन्द्रमा और विद्यापति की भाषा दुर्जनों के उपहास रूपी कलंक से कभी दूषित नहीं होते। क्योंकि बालचन्द्र महादेव शिव के मस्तक पर सुशोभित है और महाकवि

विद्यापति की भाषा नागर जनों (सामान्य नागरिकों को मोहित करती है जबकि संस्कृत केवल बुधजनों को प्रसन्न करती है)। देशीभाषा सब लोगों को मीठी लगती है। अतः अवहट्ठ भाषा में ही रचना प्रस्तुत की गयी है।

अवहट्ठ भाषा में भी रचित कीर्तिलता में महाकवि ने सुललित संस्कृत में पद्य-रचना के कौशल को प्रकट किया है।

चार पल्लवों में रचित कीर्तिलता काव्य में कथा का विस्तार 'भृंगी-भृंग' के प्रश्नोत्तर रूप में होता है। इसमें असलान नामक मुस्लिम शासक द्वारा महाराज कीर्तिसिंह के पिता गणेश्वर राय की हत्या का वृत्तांत के फलस्वरूप कीर्तिसिंह के भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर जाने की बात उल्लिखित है। जौनपुर में वहाँ के सुलतान की मदद से असलान को युद्ध में पराजित कर पुनः राज्य प्राप्त करके कीर्त्तिसिंह द्वारा पिता की हत्या का बदला लेने की कथा भी इसमें वर्णित है। चरित-काव्य के लक्षण के अनुसार 'कीर्तिलता' का आरंभ सज्जन-प्रशंसा और खलनिन्दा से किया गया है। मुख्य कथा के वर्णन के साथ-साथ नगर और युद्ध का वर्णन विस्तार से किया गया है। विद्यापति की रचनाओं में कीर्तिलता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके आधार पर विद्यापति के जन्म-समय का अनुमान किया गया है, क्योंकि इसके दूसरे पल्लव में गणेश्वर राय के मृत्युसमय का स्पष्ट उल्लेख है। अपनी भाषा के गौरव के प्रति महाकवि ने जैसा स्वाभिमान '**विज्जावइ भासा**' कहकर प्रकट किया है उससे यह रचना विद्यापति की प्रौढ़ावस्था की रचना प्रमाणित होती है।

मिथिला में अपभ्रंश साहित्य विशेष उपलब्ध नहीं है। अतः आधुनिक मैथिली भाषा के विकास के अध्ययन के लिए

इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व है। विद्वानों का मत है कि यह भाषा मिथिला-अपभ्रंश है जिसमें **शौरसेनी अपभ्रंश** का प्रभाव स्पष्ट है।

कीर्तिलता में सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का यथार्थ वर्णन है। तब तक मुसलमानों ने अपना राज्य स्थिर कर लिया था और हिन्दुओं पर उनका अन्याय और अत्याचार बढ़ गया था, जिससे मुसलमानों के प्रति हिन्दुओं की श्रद्धा समाप्त हो गई थी।

विद्यापति की अन्य रचनाओं की तरह कीर्तिलता में भी उनका काव्य-कौशल दिखाई पड़ता है। इसमें उनकी कवित्वभावना जगह-जगह स्फुट हो उठी है।

२. कीर्तिपताका

विद्यापति की अवहट्ठ भाषा की दूसरी रचना कीर्तिपताका है। इसमें महाराज शिवसिंह की प्रशस्ति है। महाराज शिवसिंह के राज्यकाल में मिथिला में सर्वत्र सुख, शान्ति और समृद्धि व्याप्त थी। महाकवि विद्यापति शांत वातावरण में सारस्वत कार्य में निरत थे और सन् १४०६ ई. से पहले ही महाराज शिवसिंह की कीर्तिगाथा को 'कीर्तिपताका' नामक ग्रंथ में उपनिबद्ध कर दिया था। इस ग्रंथ की रचना मुख्य रूप से दोहा और छन्द में है। कहीं-कहीं संस्कृत श्लोक भी हैं और बीच-बीच में गद्य भी है।

ग्रंथ के आरंभ में शिवसिंह के चाचा त्रिपुरसिंह के पुत्र अर्जुनराय की कीर्तिगाथा 'हरिकेलि' नाम से दी गई है।

महाकवि ने शृंगाररस की प्रशंसा में भी कतिपय पद्य दिए हैं और उसके बाद सुलतान के साथ महाराज शिवसिंह के युद्ध

का विस्तृत वर्णन किया गया है। यह एक वीरगाथा काव्य है, जिसमें तत्कालीन युद्ध में प्रयुक्त अस्त्र-शस्त्र, युद्धशैली, सेनानायक के बल और शौर्य आदि का वर्णन है।

मैथिली की रचनाएँ

१. गोरक्षविजय

यह महाकवि का संस्कृत नाटक है, जिसमें मैथिली भाषा में रचित छब्बीस गीत हैं। अत एव विद्वान् इसे मैथिली का नाटक' मानते हैं। यह कीर्तनियाँ नाटक की परंपरा का नाटक है। इस नाटक की रचना भी विद्यापति ने महाराज शिवसिंह की आज्ञा से किया था। इस नाटक में गोरक्षनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ की कथा का वर्णन है। इसमें श्रृंगार, अद्भुत एवं शान्तरस का समावेश प्रचुर मात्रा में हुआ है।

सनातन धर्मावलम्बी होते हुए भी विद्यापति ने बौद्ध सम्प्रदाय से अनुप्राणित नाथ सम्प्रदाय की अनुकूल कथा को आधार बनाकर 'गोरक्षविजय नाटक' की रचना की। इसके द्वारा महाकवि ने समाज में धार्मिक असहिष्णुता को दूर करने के लिए नाथ संप्रदाय से भी सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रभावी प्रयास किया।

२. मैथिली पदावली

विद्यापति की प्रमुख यशोगाथा 'मैथिली पदावली' ही है। मिथिला से बाहर अन्य सुदूर स्थानों में इनकी लोकप्रियता 'मैथिली पदावली' के कारण फैली। किन्तु कष्टप्रद बात यह है कि महाकवि की हस्तलिखित पदावली कहीं उपलब्ध नहीं है और न एक जगह पूर्ण रूप से संकलित ही है। जो पदावली

उपलब्ध है, वह प्राचीन पदों का संकलन तथा मौखिक रूप से लोककण्ठ से प्राप्त है। प्राचीन संकलन की पाण्डुलिपि जो विद्वानों को प्राप्त हुई है, उसमें खण्डित, जर्जर और जहाँ-तहाँ अक्षर, शब्द वाक्य मिटे हुए हैं। अनेक प्रतिलिपियों के पाठ एक-दूसरे से भिन्न भी हैं। अतः विद्यापति के पदों का मूल रूप और उसकी प्रकृति का रूप निश्चित नहीं किया जा सकता। कहते हैं कि सबसे प्राचीन संकलन नेपाल से प्राप्त 'विशुद्ध विद्यापति-पदावली' में है। यह संकलन विद्यापति से एक शताब्दी के बाद का संकलन बताया जाता है। केवल अनुमान से ही विद्यापति के पदों के संबंध में कोई निश्चय किया जा सकता है।

विद्यापति पदावली की उपलब्धता के संबंध में "मैथिली साहित्यक इतिहास" (ले. श्री दुर्गानाथ झा 'श्रीश') में निम्नलिखित विवरण का उल्लेख है-

(क) नेपाल पदावली- यह पदावली नेपाल दरबार पुस्तकालय में सुरक्षित है और इसी पदावली के दो संस्करण हुए हैं- प्रथम- डॉ. सुभद्र झा द्वारा 'विद्यापतिक-गीत संग्रह' नाम से और दूसरा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की ओर से। लिपि विशेषज्ञ ने इसे १८वीं शताब्दी के पारंपरिक काल का संकलन माना है। किंतु प्राचीन तिरहुता लिपि और इसकी लिपि में कोई अंतर नहीं है, अतः इसे उससे भी प्राचीन मान सकते हैं। डॉ. सुभद्र झा भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इसे सोलहवीं शताब्दी से आगे नहीं मानते हैं।

इस पदावली में कुल २८४ पद संकलित हैं। २६१ पदों में विद्यापति की **भनिता** (भणयिता अथवा लेखक, रचनाकार का

नाम) है और १३ पद अन्य कवियों के हैं। कतिपय ऐसे भी पद हैं जिनमें कवियों के नाम नहीं हैं।

(ख) रामभद्रपुर पदावली– यह पदावली रामभद्रपुर से प्राप्त हुई है, जो पटना विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह खण्डित पदावली का संकलन है, जो बीच-बीच में लुप्त है, और कुल ९६ पद इसमें उपलब्ध हैं। यह पदावली भी नेपाल पदावली का समकालिक संकलन है।

(ग) तरौनी पदावली– यह पदावली तरौनी गाँव से स्व. लोकनाथ झा के यहाँ से उपलब्ध की गई थी और बाद में कलकत्ता विश्वविद्यालय में जमा कर दी गई, जो अब उपलब्ध नहीं है। इसके पदों को नगेन्द्रनाथ गुप्त ने अपने 'विद्यापति पदावली' में संकलित कर प्रकाशित करवाया था। प्रायः इस पदावली में विद्यापति के अतिरिक्त अन्य कवियों के पद भी संकलित किए गए हैं।

(घ) रागतरंगिणी– इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है, क्योंकि मिथिला के संगीतशास्त्र का यह सबसे प्राचीन ग्रंथ है जो विद्यापति संप्रदाय की प्राचीन काव्यपरंपरा की विशेषता पर सबसे अधिक प्रकाश डालता है। संगीत और छन्द में अन्योन्याश्रय संबंध के प्रमाण की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण कृति है। महाराज महिनाथ ठाकुर एवं पण्डित नरपति ठाकुर के आश्रित कवि 'लोचन' ने इसकी रचना की, जिसमें विद्यापति के ५१ पद हैं।

(ङ) भाषागीतसंग्रह– नेपाल के राष्ट्रीय पुस्तकालय में रखे 'भाषागीतसंग्रह' में विद्यापति के ६८ गीत संगृहीत हैं और अन्य कवियों के मिलाकर कुल १४६ गीत इस संग्रह में हैं।

विद्यापति के ६८ गीतों में ३७ तो पूर्वप्रकाशित थे तथा ३१ नवीन गीत हैं। इस संग्रह का प्रकाशन पटना विश्वविद्यालय द्वारा १९६९ ई. में किया गया, जिसमें एक तालपत्र पर प्राप्त विद्यापति के दो अन्य गीत तथा जगज्ज्योतिर्मल्ल के 'हरगौरीविवाह' में प्रयुक्त सात गीतों का समावेश भी कर दिया गया। इस प्रकार कुल मिलाकर सतहत्तर गीत विद्यापति के इस 'भाषागीत संग्रह' में हैं। इस गीतसंग्रह में गीतों का शुद्ध रूप प्राप्त होता है।

(च) नानारागगीतम्– इस गीतसंग्रह में विद्यापति के २९ गीत संगृहीत हैं, जिसमें १९ गीत भनितायुक्त तथा शेष भनिताहीन हैं। 'नानारागगीतम्' में स्पष्टतः **नेवारीलिपि** में लिखा गया है।

(छ) वैष्णवपदावली– इसमें विद्यापति के कुल २९३ पद संकलित हैं। किन्तु पदों में भाषागत परिवर्तन इतना दिखाई पड़ता है कि विद्यापति के पद हैं कि नहीं उसमें भी संदेह होता है।

(ज) लोककण्ठ से प्राप्त पद–ग्रियर्सन द्वारा इस प्रकार के ८४ पदों का लोककण्ठ से संकलन कर "ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द मैथिली लैंगुएज ऑफ नॉर्थ बिहार कनटेनिंग ए ग्रामर एस्क्रेप्टोमैंथी एण्ड वोकेबुलेरी" नाम से प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त चन्दा झा की सहायता से नगेन्द्रनाथ गुप्त ने ६६३ पदों का लोककंठ से संकलन कर अपनी पदावली में दिया है। लोककंठ से संगृहीत अधिकांश व्यावहारिक पद हैं जिनमें सोहर, मलार, बटगवनी, तिरहुति, योग, उचिती, समदाओन आदि हैं! लोककंठ से प्राप्त अनेक पद अप्रकाशित भी हैं।

'विद्यापति पदावली' के उपर्युक्त स्त्रोतों के अतिरिक्त मिथिला में यत्र-तत्र लोगों के पास हस्तलेख के रूप में भी अनेक पद, पदावली उपलब्ध हैं, जो अब भी अप्रकाशित हैं।

विद्यापति के काव्य-साहित्य की विशेषता

विद्यापति की पदावली गीतिकाव्य है। उन्होंने पदावली के रूप में जनसाहित्य का निर्माण किया और मानव हृदय के मूलभूत भाववृत्ति श्रृंगार और भक्ति को रागात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की। वे राग-ताल-लय से युक्त कोमलकान्त पदावली के प्रसादपूर्ण माधुर्य से मिलकर इनके अलौकिक रस का आस्वादन करा देते हैं और जनमानस को संवेदित कर भाव विह्वल बना देते हैं। मैथिली गीत की समग्र विशिष्टताएँ विद्यापति की रचना में एकत्रित हो गई है। विद्यापति के गीतिकाव्य में गेयधर्मिता, आवेगात्मक भावाभिव्यक्ति, संक्षिप्तता, भावों की विविधता, पौराणिक आख्यान और संस्कृत रीति का प्रयोग तथा भनिता का प्रयोग आदि विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं।

गेयधर्मिता विद्यापति के गीतों में सहज उपलब्ध रहती है। इनके गीत कर्णप्रिय और आह्लादित कर देने वाले हैं। इनके पदों में कोमल और मधुर शब्दों का गुम्फन ऐसा होता है जो प्रसादपूर्ण भावों की अभिव्यक्ति पर ही इस तथ्य का अनुभव होता है। कहते हैं कि विद्यापति के गीतों को सुनने से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी गायक ने उन्हें संगीत के रागों में बाँध दिया है। इन गीतों के गेयात्मकता गुण के कारण ही किसी क्षेत्र का व्यक्ति इनके प्रति मोहित हो जाता है।

भावपक्ष और अभिव्यक्ति में भी विद्यापति के गीत अनुपम माने गए हैं।

संक्षिप्तता भी इनके गीतों की एक अन्यतम विशेषता है। **भावों की विविधता** में शृंगार और भक्ति इन दोनों भावों की रसात्मक अभिव्यक्ति इनके गीतों में होती है। मिथिला के व्यवहार गीत भावों की अभिव्यक्ति के उदाहरण माने गए हैं।

राधाकृष्ण की लीला, महादेव की भक्तवत्सलता आदि पौराणिक आख्यानों का प्रभाव भी इनके गीतों में उपलब्ध होता है।

विद्यापति ने अपने पदों में अपने आश्रयदाता राजाओं, उनकी पत्नी के नामोल्लेख के साथ-साथ स्वयं का नाम और उपनाम भी दिया है। विद्यापति की शैली में अन्य कवि ने भी देखादेखी भनिता प्रणाली को अपनाया है।

विद्यापति के गीत लोकगीत और साहित्यगीत दोनों रूप में ही लोकप्रिय हैं। विभिन्न अवसरों पर प्रयोग किए जाने वाले व्यवहारगीतों के शब्द, भाव और रस, गुण आदि उनके पदों की साहित्यिकता सिद्ध करते हैं। विद्यापति के नचारी गीतों की अतिशय लोकप्रियता के कारण, अबुलफजल के 'आइने अकबरी' में भी व्यापक देशी संगीत के रूप में चर्चा हुई है।

विद्यापति के पदों में भावविन्यास पर्याप्त रूप से रहता है और वे स्वयं में पूर्ण और स्वतंत्र हैं। अतः उन्हें मुक्तक-काव्य के अंग रूप में माना गया है।

विद्यापति के पदों में शृंगार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग की प्रस्तुति हुई है। महाकवि जयदेव के 'गीतगोविन्द' से उनकी शृंगारिक रचनाएँ प्रभावित हैं और उनके गीतों में प्रायः नायिका की महिमा का चित्रण है। नायिका राधा के रूप-लावण्य

का वर्णन, अभिसार आदि का वर्णन तरुणी के मनोभावक यथार्थ वर्णन आदि विद्यापति अनुपम सिद्ध हुए हैं। संयोग शृंगार के चित्रण में ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उन्होंने कामशास्त्र का ही सांगोपांग वर्णन किया हो। इसी प्रकार वियोग शृंगार के विविध स्वरूप के चित्रण में नायिका की वियोग-वेदना और प्रिय-मिलन की प्रबल उत्कंठा का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया गया है। उनके वर्णनों से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति रसराज शृंगार के अनुपम कवि हैं।

विद्यापति की पदावली में यत्र-तत्र प्रकृति-वर्णन भी मिलता है। मुख्यतः वसन्त और वर्षा ऋतु का वर्णन उद्दीपन और आलंबन रूप में हुआ है।

भक्तिपद– विद्यापति की भक्ति संबंधी कविता में

(i) शिवविषयक भक्तिपद (नचारी) और महेशवानी,

(ii) शक्ति गंगा और विष्णु स्तुति के पद, तथा

(iii) शान्तिपद हैं।

नचारी और महेशवानी का भक्तिपदों में अत्यधिक महत्त्व है। शिव जनदेवता के रूप में मिथिला में घर-घर पूजे जाते हैं और इसीलिए सब जगह शिव मंदिर भी हैं। शिव की आराधना में किसी प्रकार का जातिगत बंधन नहीं है और जनसामान्य शिवभक्ति में भक्ति विभोर रहता है। मिथिला में शिवाराधन के प्रतीक नचारी और महेशवानी विद्यापति के शृंगारिक गीत से कम लोकप्रिय नहीं है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि विद्यापति ने अपनी वृद्धावस्था में सांसारिकता से ऊबकर महादेव के पदों की रचना की होगी और इसमें उनकी वैयक्तिक भक्तिभावना प्रबल होकर

मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर थी। "कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ" (हे भोलेनाथ, हमारे दुख का हरण कब करेंगे) आदि पद गाकर कोई भी व्यक्ति अलौकिक आध्यात्मिक भावना से पूर्ण तल्लीनता की स्थिति में हो सकता है।

विद्यापति के शक्ति, गंगा और विष्णु भक्तिसंबंधी पद भी कम लोकप्रिय नहीं हैं। गोसाउनि (भगवती का) गीत 'जय जय भैरवि असुर भयावनि' मिथिला का सर्वप्रधान उपयोगी लोकप्रसिद्ध गीत है, जो किसी शुभ कार्य के प्रसंग में गाकर शक्तिरूपा भगवती को प्रसन्न किया जाता है। इसी प्रकार गंगा और विष्णु की भक्ति संबंधी पद भी प्रसिद्ध गीत माने गए हैं। (कतिपय प्रसिद्ध गीत परिशिष्ट में दिए गए हैं)।

विद्यापति के शान्तिगीतों में ऐसे गीत हैं जिनमें निर्वेद जन्य वैराग्य का मार्मिक चित्र हुआ है। प्रायः विद्यापति ने मृत्यु से कुछ दिनों पहले वैराग्यभाव में इन पदों की रचना की होगी। यद्यपि विद्यापति के भक्ति, वैराग्य आदि से संबंधित पदों की संख्या कम है लेकिन भावों की अभिव्यक्ति में ये मर्मस्पर्शी पद बेजोड़ माने गए हैं।

विद्यापति की रचनाओं में अनेक देवताओं, दुर्गा, विष्णु, शिव, राधा, कृष्ण, गंगा आदि की भक्ति से संबंधित पदों को देखकर विद्वानों ने इन्हें कहीं वैष्णव, शैव, शाक्त आदि मानकर इन्हें इनके धार्मिक संप्रदाय के बारे में विवादित कर दिया है, किंतु उन्हें किसी साम्प्रदायिक सीमा में बद्ध कर देना उचित नहीं। वास्तव में विद्यापति सामान्य मिथिलावासी की तरह अनेक देवताओं के उपासक थे।

मिथिला में कोई भी हो, चाहे वह वैष्णव हो, शाक्त हो या शैव हो, मैथिल मात्र पंचदेवताओं का उपासक होता है। यहाँ के लोग सूर्य, गणपति, दुर्गा, शिव, विष्णु आदि सभी पंचदेवताओं की समेकित रूप से पूजा करते हैं और पंचदेवोपासक होते हैं। कोई भी एक दूसरे देवता की उपासना का विरोध नहीं करता, इसलिए मिथिला धार्मिक उदारता के लिए प्रसिद्ध है। यही कारण है कि महाकवि विद्यापति भी उसी प्रवृत्ति के पोषक मैथिल थे, और सभी देवताओं की भक्ति में उन्होंने पदों की रचना की।

परिशिष्ट I

मैथिली लिखने में व्यवहृत लिपि

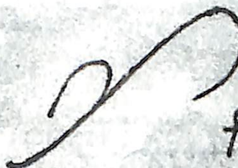
(1) तिरहुता (2) नेवारी (3) नागरी (4) रोमन

(1)	(2)	(3)	(4)	(1)	(2)	(3)	(4)
𑒁	𑐀	अ	a	𑒕	𑐕	छ	chh
𑒂	𑐁	आ	ā	𑒖	𑐖	ज	j
𑒃	𑐂	इ	i	𑒗	𑐗	झ	jh
𑒄	𑐃	ई	ī	𑒘	𑐘	ञ	ñ
𑒅	𑐄	उ	u	𑒙	𑐚	ट	ṭ
𑒆	𑐅	ऊ	ū	𑒚	𑐛	ठ	ṭh
𑒇	𑐆	ऋ	ri	𑒛	𑐜	ड	ḍ
𑒋	𑐊	ए	e	𑒜	𑐝	ढ	ḍh
𑒌	𑐋	ऐ	ai	𑒝	𑐞	ण	ṇ
𑒍	𑐌	ओ	o	𑒞	𑐟	त	t
𑒎	𑐍	औ	au	𑒟	𑐠	थ	th
𑒁𑓀	𑐀𑑄	अं	ṁ	𑒠	𑐡	द	d
𑒁𑓁	𑐀𑑅	अः	ḥ	𑒡	𑐢	ध	dh
𑒏	𑐎	क	k	𑒢	𑐣	न	n
𑒐	𑐏	ख	kh	𑒣	𑐥	प	p
𑒑	𑐐	ग	g	𑒤	𑐦	फ	ph
𑒒	𑐑	घ	gh	𑒥	𑐧	ब	b
𑒓	𑐒	ङ	ṅ	𑒦	𑐨	भ	bh
𑒔	𑐔	च	ch	𑒧	𑐩	म	m

(1)	(2)	(3)	(4)
[illegible]	[illegible]	य	y
[illegible]	[illegible]	र	r
[illegible]	[illegible]	ल	l
[illegible]	[illegible]	व	v
[illegible]	[illegible]	श	sh
[illegible]	[illegible]	ष	ṣ
[illegible]	[illegible]	स	s
[illegible]	[illegible]	ह	h
[illegible]	[illegible]	क	ka
[illegible]	[illegible]	का	kā
[illegible]	[illegible]	कि	ki
[illegible]	[illegible]	की	kī
[illegible]	[illegible]	कु	ku
[illegible]	[illegible]	कू	kū
[illegible]	[illegible]	के	ke
[illegible]	[illegible]	कै	kai
[illegible]	[illegible]	को	ko
[illegible]	[illegible]	कौ	kau
[illegible]	[illegible]	क्ष	kṣ
[illegible]	[illegible]	त्र	tr
[illegible]	[illegible]	ज्ञ	gỹ

(1)	(2)	(3)	(4)
[illegible]	[illegible]	कृ	kri
[illegible]	[illegible]	क्य	ky
[illegible]	[illegible]	क्र	kr
[illegible]	[illegible]	क्व	kv
[illegible]	[illegible]	द्ध	ddh
[illegible]	[illegible]	त्त	tt
[illegible]	[illegible]	श्र	shr
[illegible]	[illegible]	ष्ठ	sṭh
[illegible]	[illegible]	नु	nu
[illegible]	[illegible]	न्व	nv
[illegible]	[illegible]	ह्म	hm
১	[illegible]	१	1
২	[illegible]	२	2
৩	[illegible]	३	3
৪	[illegible]	४	4
৫	[illegible]	५	5
৬	[illegible]	६	6
৭	[illegible]	७	7
৮	[illegible]	८	8
৯	[illegible]	९	9
১০	[illegible]	१०	10

Page



सिद्धिरस्तु (सिद्धिरस्तु)

सा ते भवतु सुप्रीता देवी शिखरवासिनी
उग्रेण तपसा लब्धो यया पशुपतिः पतिः ॥
सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादान्तस्य धूर्जटेः
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥

आकारकी मात्रा (')

मिथिलाक्षर मे आकारकी मात्रा ' ' ' ऐसे लगाते हैं।
उदाहरण - का खा गा आदि

काका काका काका काका काका काका
खाजा खाजा खाजा खाजा खाजा खाजा

२ (व्यञ्जन वर्ण)

क	ख	ग	घ	ङ	
च	छ	ज	झ	ञ	
ट	ठ	ड	ढ	ढ़	ण (ण)
त	थ	द	ध	न	
प	फ	ब	भ	म	
य	य़	र (र)	ल	व	
श	ष	स	ह (ह)		
क्ष	त्र	ज्ञ			

ण 'र' तथा 'ह' का वैकल्पिक रूप भी दिया गया है। य जहाँ 'ज' की तरह बोला जाता है वहाँ नीचे बिन्दु नहीं लगाया जाता।

एकारकी मात्रा (𑒺)

वर्णके पहले '𑒺' लगा देने से एकारका बोध होता है।
यथा - [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इत्यादि

ऐकारकी मात्रा (𑒻)

वर्णके पहले '𑒺' तथा ऊपर '[illegible]' लगा देने से पूर्ण ऐकारका बोध होता है। किन्तु अपूर्ण ऐकारकी ध्वनि सूचित करने हेतु वर्णके आगे 'ए' (𑒋) का व्यवहार होता है।

हृस्व इकारकी मात्रा (ि)

मिथिलाक्षर तथा देवनागरी मे हृस्व इकारकी मात्रा समान रूपसे लगायी जाती है। यथा - [illegible] , [illegible] , [illegible] , [illegible]

दीर्घ ईकारकी मात्रा (ी)

इस मात्रा मेंभीदेवनागरी सें मिलता नहीं है। उदाहरण - कीठक , [illegible] , [illegible] , [illegible] , नीना , [illegible]

हृस्व उकारकी मात्रा ([illegible])

सामान्यत: वर्णके नीचे '[illegible]' या '[illegible]' लगा देने से हृस्व उकारका बोध होता है। यथा : -

[illegible] (खु) [illegible] (घु) [illegible] (चु) [illegible] (छु) [illegible] (टु)

[illegible] (ठु) [illegible] (थु) [illegible] (बु) [illegible] (भु)

[illegible] (गु) [illegible] (जु) [illegible] (डु) [illegible] (नु) [illegible] (पु)

[illegible] (भु) [illegible] (यु) [illegible] (लु) [illegible] (शु) [illegible] (सु)

परन्तु कुछ व्यंजन में उकार लगाने से रूप परिवर्तन हो जाता है। यथा -

[illegible] (कु) [illegible] (णु) [illegible] (तु) [illegible] (धु) [illegible] (रु)

[illegible] (षु) [illegible] (डु) [illegible] (नु)

दीर्घ ऊकारकी मात्रा ([illegible])

साधारणत: वर्णके नीचे '[illegible]' लगा देनेसे दीर्घ ऊकारका बोध होता है। यथा - [illegible] (कू) [illegible] (चू) [illegible] (जू) [illegible] (दू) आदि।

किन्तु कुछ वर्णों में ऊकार भिन्न रूपसे लगाया जाता है। यथा -

[illegible] (तू) [illegible] (धू) [illegible] (भू) [illegible] (हू)

ऋकारकी मात्रा (𑒵)

देवनागरीकी तरह वर्णके नीचे '𑒵' लगा देने से ऋकारका बोध होता है। यथा - 𑒐𑒵 (खृ) 𑒒𑒵 (घृ) 𑒖𑒵 (जृ) 𑒣𑒵 (पृ) 𑒧𑒵 (मृ) आदि।

किन्तु कुछ वर्णमें 'ऋ' की मात्रा भिन्न रूपोंमें लगायी जाती है।

यथा - 𑒏𑒵 (कृ) 𑒑𑒵 (गृ) 𑒠𑒵 (दृ) 𑒡𑒵 (धृ) 𑒬𑒵 (शृ) 𑒯𑒵 (हृ)

ओकारकी मात्रा (𑒺 𑒰)

वर्णके पीछे '𑒺' तथा आगे '𑒰' लगा देने से ओकारका बोध होता है। उदाहरण - 𑒏𑒼𑒬𑒲, 𑒠𑒰𑒮𑒲, 𑒔𑒼𑒩, 𑒣𑒼𑒟𑒩𑒱 - इत्यादि।

औकारकी मात्रा (𑒺𑒽)

(वर्णके पूर्व '𑒺' तथा आगे '𑒽' लगा देने से पूर्ण औकारका बोध होता है। अपूर्ण औकारकी ध्वनि व्यक्त करनेके लिए वर्णके आगे 'ओ' (𑒌) लगाते हैं।

पूर्ण औकारके उदाहरण :-

𑒏𑒿𑒂 (कौआ) 𑒕𑒿𑒂 (झौआ) 𑒢𑒿𑒂 (नौआ) 𑒥𑒿𑒂 (बौआ) 𑒠𑒿𑒛𑓃𑒪 (दौड़ल)

𑒧𑒿𑒪𑒱𑒏 (मौलिक) 𑒞𑒿𑒢𑒲 (तौनी) 𑒮𑒧𑒡𑒿𑒞 (समधौत)

अपूर्ण औकारके उदाहरण :-

𑒏𑒌𑒩 (कओर) 𑒔𑒌𑒩 (चओर)

𑒚𑒌𑒩 (ठओर) 𑒠𑒌𑒩 (दओर)

𑒣𑒰𑒌𑒪 (पाओल) 𑒣𑒜𑓃𑒰𑒌𑒪 (पढ़ाओल)

𑒧𑒌𑒮𑒰 (मओसा)

अनुस्वार, अनुनासिक तथा विसर्ग की मात्रा देवनागरी की तरह मिथिलाक्षर में भी क्रमश: '০' 'ঁ' ':' इसी प्रकार लगायी जाती है।

अनुस्वार का उदाहरण :–

কংস (कंस) কংকাল (कंकाल) দংগল (दंगल)

अनुनासिक का उदाहरण :–

কাঁস (काँस) অহাঁ কেঁ (अहाँ कें)

সে তঁ তুনকা সঁ ভেল ! = से तँ तुनका सँ भेल !

विसर्ग का उदाहरण :–

নম: শিৱায় = नम: शिवाय

कहीं पुराने लेख सब में विसर्ग का एक दूसरा रूप भी दिखाई देता है - यथा - হরি৪ (हरि:) হর৪ (हर:) वा অত৮ (अत:) নম৮ नम: आदि।

क - [illegible] (क्क) [illegible] (क्ख) [illegible] (क्त) [illegible] (क्र) [illegible] (क्व)

[illegible] (क्य) [illegible] (क्न) [illegible] (क्लु) [illegible] (क्र) [illegible] (क्ष)

ख - [illegible] (ख्न) [illegible] (ख्य) [illegible] (ख्र) [illegible] (ख्व)

ग - [illegible] (ग्ग) [illegible] (ग्द) [illegible] (ग्ध) [illegible] (ग्न)

[illegible] (ग्व) [illegible] (ग्र) [illegible] (ग्लु) [illegible] (ग्य)

𑒒 𑒒𑓂𑒫 (घ्व), 𑒒𑓂𑒢 (घ्न) 𑒒𑓂𑒩 (घ्र) 𑒒𑓂𑒨 (घ्य)

𑒓 𑒓𑓂𑒏 (ङ्क) 𑒓𑓂𑒐 (ङ्ख) 𑒓𑓂𑒑 (ङ्ग) 𑒓𑓂𑒒 (ङ्घ)

𑒔 𑒔𑓂𑒔 (च्च) 𑒔𑓂𑒕 (च्छ) 𑒔𑓂𑒨 (च्य) 𑒔𑓂𑒕𑒳 (च्छु) 𑒔𑓂𑒕𑒵 (च्छृ)

𑒖 𑒖𑓂𑒖 (ज्ज) 𑒖𑓂𑒗 (ज्झ) 𑒖𑓂𑒩 (ज्र) 𑒖𑓂𑒨 (ज्य) 𑒖𑓂𑒫 (ज्व)

𑒘 𑒘𑓂𑒔 (ञ्च) 𑒘𑓂𑒕 (ञ्छ) 𑒘𑓂𑒖 (ञ्ज) 𑒘𑓂𑒗 (ञ्झ)

𑒙𑓂𑒙 (ट्ट). 𑒙𑓂𑒨 (ट्य) 𑒙𑓂𑒩 (ट्र)

𑒚 (ठ) 𑒚𑓂𑒨 (ठ्य)

𑒛𑓂𑒑 (ड्ग) 𑒛𑓂𑒛𑒳 (ड्डु) अथवा '𑒛𑓂𑒛𑒳'; 𑒛𑓂𑒩 (ड्र)

परिशिष्ट II

मैथिली साहित्य में

साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त

लेखकों/कवियों की नामावली

वर्ष	साहित्यकार का नाम	पुस्तक का नाम एवं विधा
१९६६	यशोधर झा	मिथिलावैभव (दर्शन)
१९६८	वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री'	पत्रहीन नग्न गाछ (कवितासंग्रह)
१९६९	उपेन्द्रनाथ झा 'व्यास'	दू पत्र (उपन्यास)
१९७०	काशीकान्त मिश्र 'मधुप'	राधाविरह (महाकाव्य)
१९७१	सुरेन्द्र झा 'सुमन'	पयस्विनी (कवितासंग्रह)
१९७३	ब्रजकिशोर वर्मा 'मणिपद्म'	नैका बनिजारा (उपन्यास)
१९७५	गिरीन्द्र मोहन मिश्र	किछु देखल किछु सुनल (संस्मरण)
१९७६	वैद्यनाथ मल्लिक 'विधु'	सीतायन (महाकाव्य)
१९७७	राजेश्वर झा	अवहट्ठक : उद्भव ओ विकास (साहि. समालोचना)
१९७८	उपेन्द्र ठाकुर 'मोहन'	बाजि उठल मुरली (कवितासंग्रह)
१९७९	तन्त्रनाथ झा	कृष्ण-चरित (महाकाव्य)
१९८०	सुधांशु 'शेखर' चौधरी	ई बतहा संसार (उपन्यास)
१९८१	मार्कण्डेय 'प्रवासी'	अगस्त्यायनी (महाकाव्य)
१९८२	लिली रे	मरीचिका (उपन्यास)
१९८३	चन्द्रनाथ मिश्र 'अमर'	मैथिली पत्रकारिताक इतिहास (आलोचना)
१९८४	आरसीप्रसाद सिंह	सूर्यमुखी (कवितासंग्रह)
१९८५	हरिमोहन झा	जीवन-यात्रा (आत्मकथा)
१९८६	सुभद्र झा	नातिक पत्रक उत्तर (निबंधसंग्रह)
१९८७	उमानाथ झा	अतीत (कथा-संग्रह)

१९८८	मायानन्द मिश्र	मन्त्रपुत्र (उपन्यास)
१९८९	काञ्चीनाथ झा 'किरण'	पाराशर (महाकाव्य)
१९९०	प्रभास कुमार चौधरी	प्रभासक कथा (कथा संग्रह)
१९९१	रामदेव झा	पसिझैत पाथर (नाट्यसंग्रह)
१९९२	भीमनाथ झा	विविधा (निबन्धसंग्रह)
१९९३	गोविन्द झा	सामाक पौती (कथा संग्रह)
१९९४	गंगेश गुंजन	उचितवक्ता (कथासंग्रह)
१९९५	जयमन्त मिश्र	कविता कुसुमाञ्जलि (कवितासंग्रह)
१९९६	राजमोहन झा	आह काल्हि परसू (लघुकथा संग्रह)
१९९७	कीर्तिनारायण मिश्र	ध्वस्त होइत शांतिस्तूप (कवितासंग्रह)
१९९८	जीवकान्त	तकैत अछि चिड़ै (कवितासंग्रह)
१९९९	साकेतानन्द	गणनायक (कथासंग्रह)
२०००	रमानन्द रेणु	कतेक रास बात (कवितासंग्रह)
२००१	बबुआजी झा 'अज्ञात'	प्रतिज्ञा-पाण्डव (महाकाव्य)
२००२	सोमदेव	सहमुखी चौक पर (कवितासंग्रह)
२००३	नीरजा रेणु	ऋतंभरा (कथासंग्रह)
२००४	चन्द्रभानुसिंह	शकुंतला (महाकाव्य)
२००५	विवेकानन्द ठाकुर	चानन घन गछिया (कवितासंग्रह)
२००६	विभूति आनन्द	काठ (कथासंग्रह)
२००७	प्रदीप बिहारी	सरोकार (कथासंग्रह)
२००८	मन्त्रेश्वर झा	कतेक डारि पर (आत्मकथा)
२००९	मनमोहन झा	गंगापुत्र (कथासंग्रह)
२०१०	उषाकिरण खान	भामती (उपन्यास)
२०११	उदयचन्द्र झा 'विनोद'	अपक्ष (कवितासंग्रह)
२०१२	शेफालिका वर्मा	किस्त-किस्त जीवन (आत्मकथा)
२०१३	सुरेश्वर झा	संघर्ष आ सेहन्ता (उपन्यास)
२०१४	आशा मिश्र	उचाट (उपन्यास)

परिशिष्ट III

विद्यापति के चुने हुए पद

वन्दना/स्तुति

(१)

नंदक नंद कदम्बक तरु तर,
धिरे-धिरे मुरली बजाव।
समय संकेत निकेतन बइसल,
बेरि-बेरि बोलि पठाव॥
सामरि तोरा लागि,
अनुखने विकल मुरारि।
जमुनाक तीर उपवन उदवेगल,
फिरि-फिरि ततहि निहारि॥
गोरस विकेनिके अबइत जाइत,
जनि-जनि पुछ वनमारि।
तोहे मतिमान सुमति मधुसूदन,
बचन सुनह किछु मोरा।
भनइ 'विद्यापति' सुन बर जौबति,
वन्दह नन्द-किशोरा॥

(श्री कृष्ण गुप्त स्थान पर बैठे राधा की प्रतीक्षा कर रहे हैं– उनकी विकलता का वर्णन करती हुई राधा की सखी राधा

को वहाँ जाने के लिए प्रेरित कर रही है कि–

हे राधे, श्रीकृष्ण कदम्ब वृक्ष के नीचे निर्धारित समय पर तथा मिलन के निश्चित गुप्त स्थान पर बैठे हुए और धीरे-धीरे मुरली बजाते हुए तुझे बुलाने के लिए बार-बार बुलावा भेज रहे हैं और मुरली की ध्वनि के द्वारा तुझे बुला रहे हैं। हे साँवरी (श्यामा) तुझमें अनुरक्त कृष्ण प्रतिक्षण मिलने के लिए विकल हो रहे हैं। यमुनातट पर स्थित उपवन में उद्विग्न हुए श्रीकृष्ण मुड़-मुड़कर उसी ओर देख रहे हैं जिस ओर से तुम्हारे वहाँ पहुँचने की संभावना है। दही बेचने के लिए आती-जाती प्रत्येक नारी से वे तुम्हारे विषय में ही पूछ रहे हैं। हे राधे, मेरी यह छोटी सी बात सुन, तू बुद्धिमान है और कृष्ण भी सुमति हैं, इसलिए तुम्हारा परस्पर प्रेम होना स्वाभाविक और उचित भी है। विद्यापति कवि कहते हैं कि "सुन्दरियों में श्रेष्ठ राधे, मेरी बात सुनो। तुम कृष्ण की वंदना करो। वहाँ जाकर उनसे मिलो और उन्हें प्रसन्न करो।"

(२)

जय-जय भैरवि असुर भयाउनि,
पसुपति-भामिनि माया।
सहज सुमति बर दिअ हे गोसाउनि,
अनुगति गति तुअ पाया॥
बासर-रैनि सबासन सोभित,
चरन चंद्रमनि चूड़ा।
कतओक दैत्य मारि मुँह मेलल,
कत न उगिलि करु कूड़ा॥

सामर बरन, नयन अनुरंजित,
जलद-जोग फुल कोका।
कट-कट विकट ओठ-पुट पांड़रि,
लिघुर-फेन उठ फोका।।
घन-घन घनन, घुघुर कत बाजए
हन-हन कर तुअ काता।
'विद्यापति' कवि तुअ पद सेवक,
पुत्र बिसरु जनि माता।।

(असुरों को भयभीत करने वाली शिव की पत्नी तथा माया भगवती भैरवी तुम्हारी जय हो। हे गोस्वामिनी, मुझे ऐसी सहज सुमति का वरदान दीजिए जिससे तुम्हारे चरण ही मेरी एकमात्र शरण हों। तुम दिन-रात शवों के आसन पर विराजमान रहती हो, तुम्हारे चरण चन्द्रमणि से जड़े हुए चूड़ा से सुशोभित रहते हैं। तुमने कितने ही राक्षसों को मारकर अपने मुख में डाल लिया और कितनों को ही चबा-चबाकर चूर-चूर करके उगलकर फेक दिया। तुम्हारा रंग श्याम है, नेत्र लाल हैं। श्याम शरीर में लाल-लाल नेत्र ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे बादलों में लाल कमल फूले हों। तुम्हारे मुख से कट-कट का भयानक शब्द होता है। तुम्हारे दोनों ओठ रक्तसे सने होने के कारण पाण्डुर पुष्प के समान लाल हैं और मुख से खून के बुलबुले उठते हैं। तुम्हारे पैरों के घुँघरू घन-घन की भयानक ध्वनि से बजते हैं। तुम्हारा अस्त्र 'कत्ता' मारो मारो करता है। अतः हे माता, अपने इस पुत्र को मत बिसार देना – यह तो तुम्हारा सेवक भक्त है इस पर सदैव अपना वात्सल्य बनाए रखना।)

(३)

जय जय संकर जय त्रिपुरारि।
जय अध पुरुष जय अध नारि॥
आध धवल तनुआधा गोरा।
आध सहज कुच आध कटोरा॥
आध हड़माल आध गजमोती।
आध चानन सोह आध बिभूती॥
आध चेतन मति आधा भोरा।
आध पटोर आध मुँज डोरा॥
आध जोग आध भोग बिलासा।
आध पिधान आध दिग-बासा॥
आध चान आध सिंदूर सोभा।
आध बिरूप आध जग लोभा॥
भने कविरतन विधाता जाने।
दुहुकए बाँटल एक पराने॥

(हे शिव, हे असुरों के शत्रु, तुम्हारी जय हो। हे अद्र्धनारीश्वर तुम्हारी जय हो। तुम्हारा आधा शरीर तो स्वच्छ अर्थात् उज्ज्वल है और आधा गौर वर्ण का है। तुम्हारे शरीर के एक भाग में तो स्तन हैं और दूसरा भाग स्तनरहित है। तुम्हारे गले में जो माला है वह भी आधी अस्थियों की और आधी गजमुक्ताओं की है। शरीर के एक भाग में चंदन का लेप है, दूसरे भाग में विभूति रमाई हुई है। तुम्हारी बुद्धि भी आधी चेतन है और उन्मत्त है। तुम्हारे शरीर का आधा भाग तो रेशमी वस्त्रों से ढका हुआ है और आधे में केवल मूँज की मेखला ही लिपटी हुई है। हे अद्र्धनारीश्वर, तुम्हारा आधा शरीर योगी है और आधा भोग-विलास में लिप्त है। तुम्हारा

आधा शरीर वस्त्रों से ढका हुआ है और आधा केवल हाथी के चर्म को पहने हुए है। तुम्हारे मस्तक पर आधे में चंद्रमा और आधे में सिन्दूर शोभा पाता है। तुम्हारा आधा रूप तो भयानक है और आधा जग को मोहित करने वाला है। कविरत्न विद्यापति कहते हैं कि यह तो केवल भगवान ही जानता है कि उसने एक प्राण को दो भागों में क्यों बाँट दिया है?) इस पद में शिव की अद्‌र्धनारीश्वर के रूप में स्तुति की है।

(४)

भल हर भल हरि भल तुअ कला।
खन पित बसन खनहि बघछला।।
खन पंचानन खन भुज चारि।
खन संकर खन देव मुरारि।।
खन गोकुल भए चराइए गाए।
खन भिखि माँगिए डमरु बजाए।।
खन गोविंद भए लिअ महादान।
खनहि भसम भरु काँख दोकान।।
एक सरीर लेल दुइ बास।
खन बैकुंठ खनहि कैलास।।
भनइ 'विद्यापति' विपरीत बानि।
ओ नाराएन ओ सुलपानि।।

(हे शिव, तुम अच्छे हो) हे हरि (विष्णु) तुम भी अच्छे हो और तुम्हारी कला भी उत्तम है। एक क्षण में ही तुम पीताम्बरधारी बनते हो और दूसरे क्षण में ही व्याघ्र-चर्म को धारण करने वाले बनते हो। क्षण में पाँच मुखों वाले और क्षण में चार भुजाओं वाले बन जाते हो। पल में कृष्ण बनकर गोकुल में गाएँ

चराने लगते हो और पल में ही शिव के रूप में डमरू बजाकर भिक्षा माँगने लगते हो। क्षण में ही गोविंद (कृष्ण) बनकर गोपियों से महादान की याचना करते हो और क्षण में ही बगलों और कानों में भस्म लगाने लगते हो। तुम्हारा शरीर तो एक है लेकिन उसका निवास दो स्थानों पर है। एक क्षण में यदि वह बैकुंठ में दिखाई देता है तो दूसरे क्षण में कैलास पर्वत पर। कवि विद्यापति विपरीत बात कहते हैं कि एक नारायण हैं तो दूसरा त्रिशूल को धारण करने वाले महादेव हैं।)

विद्यापति शिव और विष्णु में कोई तात्विक भेद नहीं मानते हैं।

(५)

आगे माइ एहन उमत बर लैल,
हिमगिरि देखि-देखि लगइ छरंग॥
एहन उमत बर छोड़बो न चढ़ाइक,
जाहि घोड़ रंग रंग जंग॥
बाघक छाल सओं बसहा पलानल,
साँपक लागल तंग।
डिमिक डिमिक जे डमरू बजइन,
खटर-खटर करु अंग॥
भकर-भकर जे भाँग भकोसथि,
पटर-पटर करु गाल।
चानन सओं अनुराग न थिकइन,
भसम चढ़ावथि भाल॥
भूत पिसाच अनेक दल साजल,

सिर सओं बहि गेल गंग।
भनइ 'विद्यापति' सुनु ए मनाइनि,
थिकाह दिगंबर अंग॥

(हे सखि, ऐसा उन्मत्त वर हिमालय पर्वत खोजकर लाए हैं, जिसको देखकर आश्चर्य होता है। यह दूल्हा ऐसा उन्मत्त है कि इसे चढ़ने के लिए घोड़ा भी नहीं मिला जबकि यहाँ पर तरह-तरह के घोड़े एकत्र किए हुए हैं। दूल्हे के पास जो व्याघ्र चर्म है वही उसने बैल की पीठ पर बिछाकर साँप की डोरी से कसकर बाँध लिया है। उसका डमरू डिम-डिम की आवाज करता हुआ बज रहा है और उसके अंगों से खट-खट की आवाज आ रही है। वह भकर-भकर करके भाँग खा रहा है और उसके गालों से भी पटर-पटर की आवाज आ रही है। चंदन से तो उसको कोई लगाव ही नहीं है। वह तो सिर में केवल भस्म ही लगाता है। वह अपने साथ कोई भूत और पिशाचों के दल सजाकर लाया है और उसके सिर से गंगा बह रही है। कवि विद्यापति कहते हैं कि हे मेनका, (पार्वती की माता) सुनो इसके अंग वस्त्रहीन हैं, यह दिगम्बर है।)

शिवपूजा में शिव की बारात के वर्णन की एक परंपरा है, तदनुसार विद्यापति ने परंपरा का पालन किया है।

(६)

हम नहि आजु रहब एहि आंगन,
जौं बुढ़ होयत जमाई गे माइ।
एक त बइरि भेल विधाता,
दोसर धिया केर बाप।

तेसरे बइरि भेल नारद बामन,
जे बूढ़ आनल जमाई गे माइ।
पहिलुक बाजन डामरू तोरब,
दोसरे तोरब रुँडमाल।
बरद हाँकि बरिआत बैलाएव
धिआलै आएव पराई, गे माइ।
धोती लोटा पतरा पोथी,
एहो सभलेबन्हि छिनाई।
जौ किछ बजता नारद वामन दाढ़ी
धर घिसिआयब, गे माई।
भनइ विद्यापति सुनु हे मनाइन,
दृढ़ करु अपन गेआन।
सुभ सुभ कए सिरी गौरी विआहू,
गौरी हर एक समान, गे माइ।।

(पार्वती की माता का अपनी सखी के प्रति कथन। हे सखि, यदि यह बूढ़ा मेरा जमाई बन गया तो मैं इस आँगन में नहीं रहूँगी। एक तो ब्रह्मा मेरा शत्रु है और दूसरा शत्रु कन्या का बाप है। तीसरा शत्रु नारद ब्राह्मण है जो कन्या के लिए बूढ़ा वर ढूँढ़कर लाया है। सबसे पहले तो मैं उसका बजने वाला डमरू तोड़ूँगी, फिर उसके गले की रुंडमाला तोड़ूँगी। बैल को खदेड़कर उसकी बारात को भगा दूँगी और अपनी बेटी को लेकर भाग जाऊँगी। हे सखि, मैं उसकी धोती, लोटा, पत्रा-पोथी सभी छीनकर फेंक दूँगी। यदि फिर भी कुछ बोला तो उस ब्राह्मण की दाढ़ी पकड़कर घसीट लूँगी। कवि विद्यापति कहते हैं हे मेनका, सुनो और अपना ज्ञान दृढ़ करो। शुभ-शुभ करके पार्वती का

विवाह कर दो। गौरी (पार्वती) और शिव दोनों ही एक समान हैं।)

(७)

नहि करब बर हर निरमोहिया।
बित्ता भरि तन बसन न तिन्ह का,
बघछल काँख तर रहिआ।
बन-बन फिरथि मसान जगावथि,
घर आंगन ओ बनौलनि कहिआ।
सास-ससुर नहि ननद जेठौंनी,
जाए बैसति धिया केकरा ठहिआ।
बूढ़ बड़द ढकपाल गोल एक,
सम्पति भाँगक धोरिया।
भनइ 'विद्यापति' सुनु हे मनाइन,
सिव सन दानी जगत के कहिया।।

(पार्वती की माता मेनका का सखी के प्रति उक्ति– हे सखि, मैं कभी भी इस निर्मोही शिव को अपनी पुत्री के वर के रूप में स्वीकार नहीं करूँगी। उनके तन पर तनिक भी वस्त्र नहीं है। वह हमेशा ही व्याघ्र-चर्म अपनी बगल में दबाए रहता है। वन-वन घूमता है और श्मशान की साधना करता है। उसने अपना घर या आँगन कब बनवाया है? न सास, न ससुर, यहाँ तक कि ननद और जेठानी भी नहीं होगी तो मेरी बेटी किसके पास जाकर बैठेगी। सम्पत्ति के नाम पर उसके पास एक बूढ़ा और जर्जर बैल है जिसका रंग भूरा है तथा भाँग की झोली है। कविवर विद्यापति कहते हैं कि हे मेनका, सुनो शिव के समान इस संसार में कौन

धनी हुआ है? अर्थात् शिव सर्वाधिक संपत्तिशाली हैं।)

(८)

आगे माइ, जोगिया मोर जगत सुख दायक,
दुख ककरो नहि देल।
दुख ककरो नहि देल महादेव,
दुख ककरो नहि देल।
यह जोगिया के भाँग भुलैलक,
धतुर खोआइ धन लेल।
आगे माइ कातिक गनपति दुइजन
बालक जग भरि के नहि जान।
तिनका अभरन किछुओ न थिकइन,
रति एक सोन नहि कान।
आगे माइ, सोना रूपा अनका सुत,
अभरन आपन रुद्रक माल।
अपना सुत लै किछुओ
न जुरइति अनका लै जंजाल।
आगे माइ, छन में हेरथि कोटि
धन वकसथि, ताहि देबा नहि थोर।
भन विद्यापति, सुनह मनाइनि,
थिकाह दिगंबर भोर।।

(हे सखि, मेरा योगी सबको सुख देता है, किसी को भी दुख नहीं देता। मेरे महादेव ने किसी को भी दुख नहीं दिया। इसी योगी को किसी ने भाँग खिलाकर और किसी ने धतूरा खिलाकर भुलावे में डालकर धन लिया है। अरी सखि, संसार में सभी जानते

हैं कि कार्त्तिकेय और गणेश इनके दो पुत्र हैं। उनके कोई आभूषण नहीं और कानों में रत्ती भर सोना नहीं है। अरी सखि, दूसरों को सोना और पैसा देते हैं और दूसरों के बेटों को आभूषण पहनाते हैं लेकिन अपने गले में मुण्डों की माला ही पहनते हैं। अपने बेटों के लिए तो इन्हें कुछ मिलता ही नहीं और दूसरों के जंजाल अपने ऊपर ले लेते हैं। अरी सखी, सुनो, ये कृपालु शिव क्षण भर में ही करोड़ों की संपत्ति दान में दे ,दें तो भी इनको कमी नहीं आती। कविवर विद्यापति कहते हैं हे मेनका, सुनो यह दिगम्बर शिव बहुत भोले है।)

(९)

आजु नाथ एक व्रत महा सुख लागत हे।
तोहें सिव धरु नट वेष कि डमरु बजाबहु हे।
भल न कहल गउरा रउरा आजु सु नाचब हे।
सदा सोच मोहि होत कबन विधि बाँचव हे।
जे जे सोच मोहि होत कहा समुझाएब हे।
रउरा जगत के नाथ कवन सोच लागए हे।
नाग ससरि भुमि खसत, पुहुमि लोटायत हे।
कार्तिक पोसल मजूर सेहो धरि खायत हे।
अमित चूड़ भुमि खसत बाघम्बर जागत हे।
ढोल बघम्बर बाघ बसइ धरि खायत हे।
टूटि खसत रुदराछ मसान जगावत हे।
तब गौरी जयबाह पड़ाए नाच के देखत हे।
भनहि विद्यापति गाओल गाबि सुनाओल हे।
राखल गौरी केर मान त्रिलोक बचावल हे॥

(पार्वती की शिव के प्रति प्रार्थना– हे नाथ, आज व्रत

का दिवस है। मुझे भी सुख की कामना हो रही है। हे शिव, आप नटराज का वेष धारण कर डमरू बजाएँ। शिव ने कहा हे गौरी, आपने यह तो अच्छा कहा कि मैं भी नाचूँगा, लेकिन मुझे तो यह चिन्ता लगी है कि यह संसार किस प्रकार बचेगा। मुझे भी चिन्ताएँ लगी हुई हैं। उन्हें किस प्रकार समझाऊँ? हे नाथ आप तो विश्वस्वामी हैं आपको कैसी चिन्ता? यह सुनकर शिव कहने लगे कि मेरा नृत्य न करना ही उचित है, क्योंकि नृत्य करने से मेरे शरीर के सर्प खिसककर पृथ्वी पर लेटने लगेंगे, जिन्हें तुम्हारे पुत्र कार्तिकेय का वाहन मयूर खा जाएगा। अमृत भी चूकर पृथ्वी पर गिरेगा, जिससे यह बघछाला जीवित व्याघ्र बनकर मेरे बैल को पकड़कर खा जाएगा। मेरी रुद्राक्षों की माला भी टूटकर पृथ्वी पर गिर जाएगी, जिससे श्मशान जाग उठेगा, अर्थात् प्रेतों का भयंकर समूह उपद्रव करने लगेगा। इन दृश्यों के उपस्थित होते ही तुम भी यहाँ से भाग जाओगी, फिर मेरा नृत्य कौन देखेगा? इसलिए मेरा नृत्य करना बेकार है। कवि विद्यापति कहते हैं कि शिव ने प्रकारांतर से अपनी शक्ति का परिचय देकर पार्वती की बात भी रख ली और तीनों लोकों को नष्ट होने से बचा लिया।

(१०)

कखन हरब दुख मोर,
हे भोलाथ-कखन हरब दुख मोर।
दुखहि जनम भेल, दुखहि गमाएब,
सुख सपनेहु नहि भेल हे भोलानाथ।
आछत चानन अबर गंगाजल,
बेलपात तोहि देव, हे भोलानाथ।
एहि भवसागर थाह कतहु नहि,

भैरव धरु कर आए, हे भोलानाथ।
भन विद्यापति मोर भोलानाथ गति,
देहु अभय बर मोहि, हे भोलानाथ।

(हे भोलानाथ, आप कब मेरे दुखों को दूर करेंगे? दुखों में ही मेरा जन्म हुआ है और दुखों मे ही मेरी आयु बीती जा रही है। हे भोलानाथ, मैंने तो सपने में भी सुख नहीं देखा, हे भोलानाथ, अब तो मैं अक्षत, चंदन, गंगाजल, विल्वपत्र आदि लेकर तुम्हारी शरण में आ गया हूँ। इस संसार रूपी सागर में मुझे कहीं भी थाह नहीं मिली। हे भैरव, अब आप ही मेरे हाथ को पकड़कर पार उतारें। कविवर विद्यापति कहते हैं कि हे भोलानाथ आप ही मेरी गति हैं, अब आप ही मुझे अभय-दान दीजिए।

(११)

शिव हो उतरब पार कओन विधि?
लोढ़व कुसुम तोरब बेलपात,
पूजब सदासिव गौरिक सात।
बसहा चढ़ल सिव फिरहु मसान,
भँगिया जरठ दरदो नहि जान।
जप-तप नहि कैलहु नित दान,
बित गेल तिनपन करइत आन।
भन विद्यापति सुनु हे महेस,
निरधन जानिके हरहु कलेस॥

(हे शिव, मैं किस प्रकार पार उतरूँगा, फूल चुनूँगा, बेलपत्र तोड़ूँगा और सदा तुम्हारी पूजा पार्वती के साथ करूँगा? तुम बैल पर चढ़कर श्मशान में घूमते हो और भाँग पीकर मुझ बूढ़े

का दुख जानते ही नहीं। मैं सारी आयु जप तप कुछ नहीं कर सका और न ही मैंने कोई दान-धर्म ही किया। मेरी आयु के तीन भाग घर के कामों में ही (सांसारिक भोग विलासों में ही) बीत गए। कविवर विद्यापति कहते हैं कि मुझे तुम दीन जानकर ही मेरे दुःख दूर कर दो।)

(१२)

रे नरनाह सतत भजु ताही,
नहि जननि, जनक नहि जाही।
बसु नइहरा ससुरा के नाम,
जननिक सिर चढ़ि गेलवहि गाम।
सासुक कोर में सुतल जमाय,
समधि विलह तौ बिलहल जाय।
जाहि ओदरसँ बाहर भेलि,
से पुन पलटि ततय चलि गेल।
भन विद्यापति सुकबी भान,
कवि के कवि कहँ कवि पहचान।।

(सीता के गुणों का वर्णन करते हुए भक्त उनकी वन्दना कर रहा है– हे नृपति, आप हमेशा उसी का स्मरण करें जिसके माँ-बाप नहीं हैं। जो सदा ससुराल के नाम पर मायके ही रहती है जो अपनी जननी के मस्तक पर पाँख रखकर ही ससुराल पहुँची थी। सास की गोद में जमाई को सोना पड़ा। कहा जाता है कि एक बार जिससे संबंध जुड़ जाए वह बना ही रहता है। वह जिस पृथ्वी माता के गर्भ से उत्पन्न हुई थी उसी में समा गई। कविवर विद्यापति अपना अनुमान प्रकट करते हैं कि कवि को कोई कवि

ही पहचान सकता है। अर्थात् कवि के मन में बसने वाले इष्ट को कोई विरल कवि ही पहचान सकता है।)

(१३)

माधव, कत तोर करब बड़ाई।
उपमा तोहर कहब कहरा हम,
कहितहुँ अधिकं लजाई।
जौं श्रीखण्ड सौरभ अति दुरलभ,
तौं पुनि काठ कठोर।
जौं जगदीस निसाकर तौं,
पुन एकहि पच्छ इजोर।
मनि समान औरों नहि
दोसर तनिकर पाथर नामे।
कनक कदलि छोट लज्जित
भए रह की कहु ठामहि ठामे।
तोहर सरिस एक तोहँ माधव,
भन होइछ अनुमान।
सज्जन जन सँ नेह कठिन थिक,
कवि विद्यापति भान॥

(हे कृष्ण मैं तुम्हारी प्रशंसा कहाँ तक करूँ। तुम्हारी तुलना मैं किससे करूँ। मुझे यह कहते हुए भी लज्जा आती है। यदि चंदन की सुगंध दुर्लभ है तो वह कठोर काष्ठ (लकड़ी) है। यदि चंद्रमा को लाता हूँ तो उसका केवल एक ही पक्ष प्रकाशित है। मणि के समान और दूसरा कोई नहीं, परन्तु उसके नाम के साथ ही पत्थर जुड़ा है। स्वर्ण-कदलि तो तुम्हारा नाम सुनकर ही लजा जाती है और अपना सिर झुका लेती है। क्या कहूँ वह तो

जहाँ थीं वहाँ ही ठमक रही है। हे कृष्ण मेरा अनुमान है कि तुम्हारे समान कोई नहीं अर्थात् तुम अपनी तुलना में स्वयं ही हो। कविवर विद्यापति कहते हैं कि सज्जन पुरुषों से मेल बढ़ाना कठिन है।

(१४)

तातल सैकत वारि-निन्दु सम,
सुत-मित-रमनि-समाज।
तोहे विसारि मन ताहि समरपिनु,
अब मझु हब कौन काज।
माधव, हम परिनाम निरासा।
तुहुँ जगतारन दीन दयामय,
अतय तोहर विसवासा।
आध जनम हम नींद गमायनु,
जरा सिसु कत दिन गेला।
निधुबन रमनि रमस रंग मातनु,
तोहे भजब को न बेला।
कत चतुरानन भरि-भरि जाओत,
न तुअ आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुन तोहे समाओत,
सागर लहरि समाना।
भनइ विद्यापति, सेष समन भय,
तुअ विन गति नहि आना।
आदि अनादिक नाथ कहाओसि,
अब तारन भार तोहरा॥

(भक्त की कृष्ण के प्रति प्रार्थना)–

तप्त बालू पर पड़ी हुई पानी की बूँद के समान मेरा मन भी पुत्र, मित्र, रमणीं और समाज से घिरकर अस्तित्वहीन हो गया है। मैंने आपको भुलाकर अपना मन उसको समर्पित कर दिया है। मुझे समझ में नहीं आता कि अब मेरा क्या उपाय होगा। हे कृष्ण हमें तो परिणामस्वरूप निराशा ही मिली है। हे प्रभु, तुम दीनों पर दया करने वाले और जगत का उद्धार करने वाले हो। मैंने तो तुम्हारा ही विश्वास किया है। हे प्रभु मैंने आधा जीवन सोकर बिता दिया और बुढ़ापे तथा शैशव में कितने दिन व्यर्थ खो दिए अपना यौवन मैंने सुन्दरियों के साथ रास रंग में बिता दिया। तुम्हारा भजन मैं किस समय करूँ? चतुर्मुख ब्रह्मा कितने ही जन्म लेते हैं और कितने मरते हैं। लेकिन तुम्हारा न आदि है न अन्त है। तुम्हीं से सब जन्म लेते हैं और तुम्हीं में उसी प्रकार समा जाते हैं, जिस प्रकार सागर में लहरें समा जाती हैं। कविवर विद्यापति कहते हैं कि हे कृष्ण, तुम्हीं मेरे भय को दूर करो। तुम्हारे सिवा मेरा कोई दूसरा नहीं। तुम आदि और अनादि के नाथ कहलाते हो। अब मेरे उद्धार करने का भार तुम पर ही है।

(१५)

जतने जतेक धन पाए बटोरल,
मिलिमिलि परिजन खाय।
मरनक बेरि हरि कोइ न पूछए,
करम संग चलि जाए।
ए-हरि, बन्दौ तुअ पद नाए।
तुअ पद परिहरि, पाप-पयोनिधि,

पारक कओन उपाय।
जावत जनम नहि तुम पद सेबिनु,
जुबती मन भयँ मेलि।
अमृत तजि हलाहल किए पीअल,
सम्पद आपदहि भेल।
भनइ विद्यापति नेह मने गनि,
कहल कि बाढ़व काजे।
सांझक बेरि सेवकाई मंगइस,
हेरइत तुअ पद लाजे॥

(उद्धार के लिए भक्त का कृष्ण से निवेदन और दैन्य प्रकटन)

हे कृष्ण मैंने यत्न करके जितना भी पाप कार्यों द्वारा धन एकत्रित किया था, उसे सभी सम्बंधी मिलकर उड़ा रहे हैं। परन्तु मरते समय कोई भी मेरी बात नहीं पूछेगा। मेरे तो कर्म ही मेरे साथ जायेंगे। हे कृष्ण मैं अपना मस्तक नत करके तुम्हारे ही चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ। तुम्हारे चरणों को छोड़कर इस पाप रूपी समुद्र का पार करने का और कौन सा उपाय है। अर्थात् अन्य कोई उपाय नहीं। जीवन में तो मैंने तुम्हारे चरणों की सेवा नहीं की। युवती ही मेरे लिए मणि बन गई। मैंने अमृत छोड़कर विष का पान किया इसीलिए तो यह विपत्ति मेरी थाती बन गई। कविवर विद्यापति कहते हैं कि अपने मन में अपने प्रेम पर विचार करो, मेरी ही प्रार्थना से क्या होगा? समस्त जीवन पाप करके वृद्धावस्था में मैं तुम्हारा सेवकपन माँग रहा हूँ, यह मेरी धृष्टता है, क्योंकि तुम्हारे चरणों की ओर देखते हुए भी मुझे लज्जा आती है।

वसन्त

(१६)

नव वृंदावन नव-नव तरुगन,
नव-नव विकसित फूल।
नवल वसन्त नवल मलयानिल,
मातल नव अलि कूल।
बिहरइ नवलकिशोर।
कालिंदि-पुलिन कुंज बन सोभन,
नव-नव प्रेम विभोर।
नवल रसाल मुकुल, मधु मातल,
नव-कोकिल कुल गाव।
नव जुवति-गन चित उमताअइ,
नव रस कानन धाब।
नव जुबराज, नबल बर नागरि,
मीलए नव-नव भाँति।
नित-नित ऐसन, नब-नब खेलन,
विद्यापति मति माति॥

(नवीन वृन्दावन में नए-नए वृक्षों के समूह में नए-नए फूल खिल गए हैं। नवीन वसन्त ऋतु है, नवीन मलय-पवन चल रहा है। मत्त हुए नवीन भौरों का समूह मंडरा रहा है। ऐसे वातावरण में युवक कृष्ण विहार कर रहे हैं। यमुना तट के कुंज तथा वन सुशोभित हो रहे हैं। और वहाँ पर कृष्णप्रेम के नए-नए भावों के कारण विभोर हो रहे हैं। नवीन आमों की मंजरी के मधु से मत्त होकर नवीन कोयलों का समूह कूक रहा है जिससे

नवयुवतियों के समूह का मन उन्मत्त हो रहा है। ऐसे मादक वातावरण को देखकर यह प्रतीत होता है मानो समूचे वन में श्रृंगार रस व्याप्त हो रहा है। नवयुवकों में श्रेष्ठ और रमणियों में उत्तम राधा भाँति-भाँति से परस्पर मिल रहे हैं। विद्यापति कहते हैं कि प्रतिदिन ऐसे-ऐसे नवीन-नवीन खेलों से नवयुवक और नवयुवतियों की मति मतवाली हो जाती है।

(१७)

नाचहु रे तरुनी तजहु लाज।
आएल बसंत रितु बनिक राज।
हस्तिनि, चित्रिनि, पदुमिनी नारि।
गोरि सामरि एक बूढ़ि वारि।
विविध भाँति करलन्हि सिंगार।
पहिरल पटोर गल झुलहार।
केओ अगर चंदन धसि भरि कटोर।
ककरहु खोइँछा करपुर कमोर।
केओ कुंकुम रंग मरदबा आँग।
ककरहु मोति अमल छाज माँग।।

(बसंत आगमन पर युवतियों से श्रृंगार करने की बात कही गई है- हे तरुणीगण, लज्जा त्यागो और नृत्य करो। क्योंकि तुम्हारे यौवन का मूल्यांकन करने वाला ऋतुराज बसंत आ गया है जो वणिक् (व्यापारी) का रूप धारण किए हुए है। हस्तिनी, चित्रिणी, पद्मिनी, गोरी, श्यामा, वृद्धा और बालाओं ने विविध प्रकार से श्रृंगार सजा लिए हैं। वे रेशमी वस्त्र पहने हुई हैं और उनकी गर्दनों में हार लटक रहे हैं। किसी युवती ने अगर और

चन्दन घिसकर कटोरा भर लिया है, किसी के खोइँछ (गोद के वस्त्र) कपूर और पान रखे हुए हैं। कोई अपने शरीर में केशर का रंग मलती है और कोई भली प्रकार से मोतियों से अपनी माँग सजा रही है।

प्रेम-प्रसंग

(१८)

कत न वेदन मोहि देसि मदना।
हर नहि बला मोहि जुबति जना।
विभूति-भूषन नहि चाननक रेनु।
बघछाल नहि सिर नेतक बसनू।
नहि मोरा जटा-भार चिकुरक बेनी।
सुरसरि नहि सिर कुसुमक स्रेनी।
चाननक बिंदु मोरा नहि इन्दु छोटा।
ललाट पावक नहि सिनुरक फोटा।
नहि मोरा कालकूट मृगमद चारु।
फनिपति नहि मोरा मुकुता हारु।
भनइ विद्यापति सुन देव कामा।
एक पए दूखन नाम मोर बामा।।

(कामदेव ने विरहिणी को भ्रम से शिव समझ लिया है और इसीलिए शिव को अपना शत्रु जानकर नायिका को पीड़ित कर रहा है। अतः नायिका कहती है कि हे कामदेव, तू मुझे इतनी पीड़ा क्यों दे रहा है। मैं शिव नहीं बल्कि युवती नारी हूँ। यह विभूति-भूषण नहीं वरन् चंदन की धूल है। मेरा आँचल बाघछाला नहीं बल्कि सिर का महीन वस्त्र है। मेरे केशों की वेणी शिव की

जटा नहीं कुसुमों की पंक्ति है जो मैंने सिर पर सजाई है, वह गंगा नहीं, मेरे ललाट पर लगा चंद्रबिंदु द्वितीया का चन्द्रमा नहीं है। मेरे मस्तक पर लगा सिंदूर बिंदु (टीका) है न कि शिव के तृतीय नेत्र से निकलने वाली आग है। मेरे ओठों पर लगे सुंदर कस्तूरी के टीके को विष मत समझो। मेरे गले में मोतियों की माला सर्प नहीं है। अतः तुम मुझे शिव समझकर उनके शत्रु (कामदेव) होकर मुझे जो कष्ट दे रहे हो वह ठीक नहीं, केवल तुम्हारा भ्रम है। हाँ, मेरा नाम बामा (नारी) है जो शिव के बामदेव नाम से मेल जरूर खाता है। अतः तुम इस भ्रम को छोड़ दो और मुझे दुःख देना छोड़ दो।

(१९)

कि कहब हे सखि इह दुख ओर।
बाँसि-निसास-गरल तनु भोर।
हठ सयँ पइसए स्त्रवनक माझ।
ताहि खन विगलित तन मन लाज।
विपुल पुलक परिपूरए देह।
नयन न हेरि हेरए जनु केह।
गुरु जन समुखहि भाव तरंग।
जतनहि बसन झाँपिअ सब अंग।
लहु-लहु चरन चलिए गृह माझ।
दइब से बिहि आजु राखल लाज।
तनु मन बिबस खसए निबि-बंध।
कि कहब 'विद्यापति' रहु धंद॥

(कृष्ण को देखकर राधा के मन में जागृत काम-वासना से वह मन पर काबू नहीं पाकर सखी से कहती है– हे सखि, इस

दुख की सीमा क्या कहूँ, यह अपार है। कृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि रूपी विष से मेरा शरीर बेसुध हो गया। विष खाने से शरीर की चेतना समाप्ति की तरह बाँसुरी की ध्वनि सुनकर मैं प्रेम और आनंद में आत्मविभोर हो शरीर की सुधबुध खो बैठी। वंशीध्वनि बलात् मेरे कानों में प्रविष्ट हो मेरे शरीर और मन की लज्जा नष्ट कर गई। अत्यधिक पुलक से शरीर भर गया। कोई कहीं देख न ले इस भय से आँखें कृष्ण की ओर नहीं उठाई। गुरुजनों के सामने ही मेरे मन में भावनाएँ लहरों के रूप में उठ खड़ी हुई। यत्नपूर्वक मैंने अपने अंगों को वस्त्र से ढक लिया। धीरे-धीरे पैर रखती हुई मैं अपने घर आई। दैववश ईश्वर ने मेरी लाज रख ली; अन्यथा सभी के सामने मेरे छिपे प्रेम का रहस्य खुल जाता, क्योंकि प्रेमावेश के कारण मेरा तन-मन विवश हो गया था। तथा नीबी का बंधन भी ढीला पड़ गया था। विद्यापति कवि कहते हैं कि राधा अंत में अपनी सखी से कहने लगी कि क्या कहूँ, मैं तो भारी द्वंद्व में पड़ गई हूँ।

वयःसंधि

(२०)

सैसब जौबन दुहु मिलि गेल।
स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल।
बचनक चातुरि लहु-लहु हास।
धरनिये चाँद कएल परगास।
मुकुर हाथ लए करए सिंगार।
सखि पूछए कइसे सुरत-बिहार।
निरजन उरज हेरए कत बेरि।

बिहुँसए अपन पयोधर हेरि।
पहिलें बदरि सम पुन नवरंग।
दिन-दिन अनंग अगोरल अंग।
माधव पेखल अपरुब बाला।
सैसब जौबन दुहु एक भेला।
विद्यापति कह तोहें अगेआनि।
दुहु एक जोग एहके कह सयानि॥

(वय:संधि में राधा के बचपन और यौवन दोनों परस्पर मिल गए हैं। दोनों नेत्रों ने विशाल होकर कानों की ओर बढ़ना शुरू कर दिया है। वचनों की चतुरता मंद-मंद हँसी में बदल गई है अर्थात् वह बोलती कम है और नेत्रों को अधिक चलाती है। उसकी हँसी इतनी निर्मल और मधुर है, मानो धरती पर चंद्रमा प्रकाश कर रहा हो। अब वह हाथ में दर्पण लेकर शृंगार करती है और अपनी सखी से पूछती है कि प्रेम लीला कैसी होती है? बार-बार निर्जन स्थान में अपने उरोजों को देखती है और उन्हें देखकर वह हँसती है। (उसे खुशी होती है) जो उरोज पहले बेर के फल के समान छोटे थे वे अब नारंगी के समान बड़े हो गए हैं। प्रतिदिन कामदेव उसके अंगों पर पहरा दिए हुए है- उसके अंग-अंग में प्रतिदिन कामवासना बढ़ती जाती है। हे कृष्ण, मैंने ऐसी वय:संधि से युक्त वह अपूर्व बाला देखी, जिसमें शैशव और यौवन दोनों मिलकर एक हो गया है। विद्यापति कवि कहते हैं कि तू तो मूर्ख है, भला कौन चतुर स्त्री कह सकती है कि ये दोनों- शैशव और यौवन- एक साथ रह सकते हैं। (यहाँ तो केवल यौवन का ही प्रभाव अधिक होता है)।

(२१)

पहलि बदरि कुच पुन नवरंग।
दिन दिन बाढ़ए पिड़ए अनंग।
से पुन भए गोल बीजकपोर।
अब कुच बाढ़ल सिरिफल जोर।
माधव पेखल रमनि संधान।
घाटहि भेटल करत सिनान।
तन सुक सुबसन हिरदय लागि।
जे पुरुष देखव तेकर भागि।
उर हिल्लोलित चाँचर केस।
चामर झाँपल कनक महेस।
भनइ विद्यापति सुनहु मुरारि।
सुपुरुष बिलसए से बर नारि।।

(इस पद में राधा की वयःसंधि का वर्णन है।)

जो उरोज कुछ पहले बेर के समान थे, वे फिर नारंगी के समान हो गए हैं। वे दिन-दिन बढ़ते गए हैं और कामदेव उस बाला को पीड़ा देता रहा है, ज्यों-ज्यों वह युवती होती गई उसके मन में काम-वासना बढ़ती गई। वे कुच फिर बड़े नींबू के समान हुए और अब बढ़कर श्रीफल के समान हो गए हैं। उस रमणी की खोज करते हुए कृष्ण ने उसे देखा। स्नान करती हुई उस रमणी से उन्होंने घाट पर ही भेंट की। स्नान करने के कारण उसका बारीक वस्त्र उसके हृदय से चिपक गया था। जो पुरुष इस अवस्था में उस रमणी को देख पाते हैं, वे अत्यंत सौभाग्यशाली हैं। लज्जा के कारण अथवा स्नान के श्रम के कारण उस रमणी का हृदय धड़क

रहा था और केश बिखरे हुए थे। बिखरकर कुचों पर पड़े हुए केश ऐसे प्रतीत होते थे मानो सोने के शिव को चामर से ढक दिया गया हो। विद्यापति कवि कहते हैं कि हे कृष्ण, सुनो कोई श्रेष्ठ पुरुष ही इस श्रेष्ठ रमणी से विलास कर सकता है।

(२२)

प्रथम सिरीफल गरबें गमओलह,
जौं गुन-गाहक आबे।
गेल जौवन पुनु पलटि न आबए,
केवल रह पछताबे।
सुन्दरि बचन करह समधाने।
तोहि सनि नारी दिवस दस
अछलिहुँ ऐसनि उपजु मोहि भावे।
जौबन रूप ताबे धरि छाजत,
जाबे मदन अधिकारी।
दिन दस गेले सखि सेहओ पराएत,
सकत जगत परचारी।
'विद्यापति' कह जुबति लाख लह,
पड़ल पयोधर तूले।
दिन-दिन आहे सखि ऐसनि होयबह,
घोसिनि घोरक मूले॥

(कृष्ण की दूती राधा को यौवन की नश्वरता का उपदेश देकर कृष्ण के प्रति आकर्षित करने का प्रयत्न करती हुई कहती है– हे राधे, जब गुण-ग्राहक आया तो पहले ही तुमने उसे अपने कुचों के गर्व से गँवा दिया और कृष्ण की भी परवाह नहीं की।

तुम्हारा यह गर्व करना व्यर्थ है क्योंकि बीता हुआ यौवन फिर दोबारा लौटकर नहीं आता। यौवन के बीत जाने पर केवल पछतावा ही रह जाता है। हे सुन्दरि, मेरी इस बात पर तुम गंभीरता से विचार करो, तुम्हारी ही तरह दस दिन के लिए मैं भी कभी तुम जैसी सुन्दर नारी थी, इसी कारण मैं ऐसा सोच रही हूँ। यौवन और रूप तभी तक शोभा को धारण करते हैं जब तक कामदेव उनका अधिकारी होता है। रूप और यौवन की सार्थकता समय रहते किसी से प्रेम करके काम क्रीड़ाएँ करने तक ही रहती है। हे युवति, पयोधर रूपी तराजू में ही लाखों का लाभ पड़ता है। जब तक यह यौवन शरीर में होता है तभी तक युवती पुरुषों को वशीभूत करने में सफल होती है। हे सखि, तुम दिन-प्रतिदिन ऐसी बनती चली जाओगी जैसे ग्वालिनी के मट्ठे का मूल्य, जिसे कोई नहीं पूछता जब तुम्हारे शरीर से रूपयौवन का सौंदर्य समाप्त हो जाएगा तब तुम्हें कोई भी नहीं पूछेगा– और प्रेम करने के लिए कोई आतुर नहीं होगा।

(२३)

हे हरि हे हरि सुनिअ स्त्रवन भरि,
अब न बिलासक बेरा।
गगन नखत छल से अबेकत मेल,
कोकिल कुल कर फेरा।
चकबा मोर सोर कए चुप मेल,
उगिआ मलिन भेल चंदा।
नगरक धेनु डगर भए संचर,
कुमुदनि बसु मकरंदा।
मुख केर पान सेहो रे मलिन भेल,

अबसर भल नहि मंदा।
विद्यापति भन एहो न उचित थिक,
जग भरि होएत निंदा।

रति से श्रांत कृष्ण को प्रातः जगाया जा रहा है–

हे कृष्ण, कान खोलकर सुन लो, अब रति केलि करने का समय नहीं रह गया है, क्योंकि रात बीत चुकी है। आकाश में तारे भी छिप गए हैं– कोयल का समूह बोल रहा है– चकवा और मोर शोर करके चुप हो गए हैं। जो चंद्रमा पहले चमक रहा था वही अब ज्योतिहीन हो गया है। नगर की गायें चरागाह के रास्ते चल पड़ी हैं, खिली हुई कुमुदिनी के फूल मुरझाकर बंद हो गए हैं। मुख का पान भी रसहीन हो गया है। अब प्रातःकाल होने के कारण यह अवसर रति-क्रीड़ा के लिए उचित नहीं, अनुचित है। विद्यापति कवि कहते हैं कि वास्तव में यह समय रतिक्रीड़ा के लिए उचित नहीं है– यदि इस समय भी रतिक्रीड़ा की गई तो तुम्हारी निन्दा होगी।

(२४)

कि कहब हे सखि रातुक बात।
मानिक पड़ल कुबानिक हाथ।
काँच कंचन नहि जानए मूल।
गुंजा रतन करए समतूल।
जे किछु कभु नलि कला रस
ज ा न ।
नीर खीर दुहु करए समान।
तन्हिं सएँ कैसन पिरीत रसाल।

बानर-कंठ कि मोतिक माल?
भनइ विद्यापति, एह रस जान।
बानर-मुँह की सोभए पान?

(सखी के प्रति राधा का कथन– हे सखि, तुमसे रात की क्या बात कहूँ? कृष्ण के साथ रति केलि में जो दुर्दशा मेरी हुई उसका तो वर्णन करना ही कठिन है। यह समझ लो कि मूर्ख व्यापारी के हाथ में मणि पड़ गई जो काँच और सोने का मूल्य नहीं जानता और घुँघुची तथा रत्न को बराबर ही समझता है। रतिक्रीड़ा के समय कृष्ण ने न तो मेरे सुकोमल शरीर का ही ध्यान किया और न मेरे ही मुग्धत्व को ही समझा, बल्कि मेरे साथ काम-आक्रांत नारी की तरह रति क्रीड़ा की। जो व्यक्ति कभी भी काम-कला के रस को नहीं जानता तथा पानी तथा दूध को एक समान समझता है उस व्यक्ति के साथ आनंददायिनी प्रीति कैसे हो सकती है? कहीं बंदर के गले में भी मोतियों की माला पड़ती है? विद्यापति इस रस को जानकर कहते हैं कि बंदर के मुख में कभी भी पान शोभा नहीं देता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बंदर मोती तथा पान के अयोग्य है उसी प्रकार मदनोन्मत्त कृष्ण मुग्धा एवं कोमल राधा के योग्य नहीं है।

(२५)

चंदा जनि उग आजुक राति।
पिया के लिखिअ पठाओब पाँति।
साओन सयँ हम करब पिरीति।
जत अभि मत अभिसारक रीति।
अथवा राहु बुझाएब हँसी।

पिबि जनि उगिलह सीतल ससी।
कोटि रतन जलधर तोहें लेह।
आजुक रयनि घन तन कए देह।
भनइ विद्यापति सुभ अभिसार।
भल जन करथि परक उपकार।।

(अभिसार के लिए उत्सुक नायिका चंद्रमा और बादल से विनती कर रही है– हे चंद्रमा, तुम आज की रात उदित मत होओ। क्योंकि मुझे प्रियतम को यह पत्र लिखकर भेजना है कि मैं श्रावण मास में तुमसे प्रीति करूँगी, संकेतस्थल में आकर तुमसे मिला करूँगी। चंद्रमा के कारण अभिसारिका को जो लोकापवाद लगता है उसे मैं राहु को समझा दूँगी और उससे विनती करूँगी कि वह शीतल चंद्र को निकालकर फिर कभी अपने मुँह से बाहर नहीं निकाले जिससे हमेशा अँधेरी रातें बनी रहें। हे बादल, यदि तुम आज की रात को गहरे अंधकार से ढँके रहे तो मैं इसके बदले तुम्हें करोड़ों रत्न भेंट करूँगी। विद्यापति कवि कहते हैं कि यह अभिसार शुभ होगा क्योंकि सज्जन दूसरों की भलाई करते हैं।)

(२६)

कि कहव हे सखि आजुक रंग।
सपनहि सूतल कुपुरुषक संग।
बड़ सुपुरुष बलि आएल धाई।
सूति रहल मोर आँचर झँपाई।
काँचलि खोलि आलिंगन देल।
मोहि जगाए आपु निंद गेल।

हे बिहि, हे बिहि, बड़ दुख भेल।
से दुख रे सखि अबहु न गेल।
भनइ विद्यापति एह रस धंद।
भेक कि जान कुसुम-मकरंद॥

(राधा अपनी काम-क्रीड़ा का वर्णन सखी से कर रही है– हे सखि आज की काम-क्रीड़ा की बात तुम्हें क्या बताऊँ। धोखे से मैं एक नीरस व्यक्ति के साथ सो गई थी। वह व्यक्ति स्वयं को बड़ा रसिक बताकर मेरे पास दौड़ा आया और मेरे आँचल से स्वयं को ढँककर सो गया। उसने मेरी कंचुकी खोलकर मेरा आलिंगन किया और मुझे जगाकर स्वयं सो गया। हे विधाता, हे विधाता, उसने मुझे बड़ा दुख दिया है। हे सखि, वह दुख अभी तक दूर नहीं हुआ है और मुझे दुखी कर रहा है। विद्यापति कवि कहते हैं कि इस रस की यही विचित्रता है। पुष्प-रस को मेंढक क्या जान सकता है। जिस प्रकार मेंढक पुष्प रस के महत्त्व को नहीं जानता उसी प्रकार अरसिक व्यक्ति काम-कला के आनंद को नहीं जानता।

विरह

(२७)

माधव, तोहे जनु जाह विदेस।
हमरो रंग रभस लए जएबह,
लएबह कओन संदेस।
वनहि गमन करु होएत दोसर मति,
बिसरि जाएब पति मोरा।
हीरा मनि मानिक एको नहि माँगब,

फेरि माँगब पहु तोरा।।
जखन गमन करु नयन नीर
भरु देखिओ न भेल पहु ओरा।
एकहि नगर बसि पहु भेल पर-बस,
कइसे पुरत मन मोरा।
पहु संग कामिनि बहुत सोहागिनि,
चंद निकट जइसे तारा।
भनइ विद्यापति सुनु बर जौबत,
अपन हृदय धरु सारा।।

(राधा कृष्ण को विदेस जाने से रोकती, कहती है–)

(हे कृष्ण, तुम विदेश मत जाओ। विदेश जाते समय तुम मेरे आमोद प्रमोद को अपने साथ ले जाओगे, किंतु उनके बदले में कौन संदेश लाकर मुझे दोगे? तुम्हारे विदेश जाने से मुझे जो हानि होगी संसार की कोई भी वस्तु उसकी पूर्ति नहीं कर सकती। वन-गमन करते ही तुम्हारी बुद्धि बदल जाएगी और तुम मुझे भूल जाओगे। मैं तुमसे हीरा, मणि, माणिक्य कुछ भी नहीं माँगती। हे प्रभु, मैं केवल तुम्हारा वापस आना माँगती हूँ। जब पहले भी तुमने विदेसगमन किया था, तुम्हारी ओर देख भी नहीं सकी थी। हे प्रभु, हम दोनों एक ही नगर में रहे हैं, और तुम दूसरी नायिका में आसक्त हो गए तो विदेश जाकर क्या तुम अन्य रमणियों से प्रेम न करोगे? इससे मेरा मन कैसे आश्वस्त रह सकता है? जैसे चंद्रमा के समीप रहकर तारे की शोभा होती है उसी प्रकार अपने स्वामी के साथ रहकर ही नारी परम सुहागिन समझी जाती है। विद्यापति कवि कहते हैं कि हे श्रेष्ठ युवती, सुनो अपने हृदय में धैर्य धारण करके रहो।)

(२८)

सरसिज बिनु सर, सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।
जौबन बिनु तन, तन बिनु जौबन,
की जौबन पिय दूरे।
सखि हे मोर बड़ दैव विरोधी।
मदन बेदन बड़ पिया मोर बोलछड़
अबहु देह परबोधी।
चौदिस भमर भय कुसुम कुसुम रम,
नीरसि माँजरि पीबै।
मंद पबन बह पिक कुहु-कुहु-कह,
सुनि विरहिनि कइसे जीवै।
सिनेह अछल जत हमे भेल न टूटत,
बड़ बोल जत सब धीर।
अइसन के बोल दहु निअ सिम तेजिं
कहु उछल पयोनिधि नीर।
भनइ विद्यापति अरे रे कमलमुखि,
गुन गाहक पिया तोरा।
राजा सिवसिंह रूपनरायन,
सहजे एको नहि भोरा।।

(राधा अपनी विरह वेदना का वर्णन सखी से करती है–)

हे सखी, जिस प्रकार कमल के बिना तालाब, तालाब के बिना कमल और कमल के बिना सूर्य की शोभा नहीं होती, उसी प्रकार यौवन के बिना शरीर और शरीर के बिना यौवन और प्रिय से दूर यौवन शोभा-सम्पन्न नहीं बनता। रमणी की सार्थकता इसी

में है कि उसका प्रियतम निरंतर उसके पास रहे और उसके यौवन का उपभोग करता रहे। हे सखि, मेरा भाग्य मेरे बहुत ही प्रतिकूल है। कामदेव की वेदना असह्य है। मेरा प्रियतम झूठ बोलने वाला है। इस पर भी तुम मुझे बहला देना चाहती हो। भौंरों का समूह चारों ओर घूम-घूम कर प्रत्येक पुष्प पर रमण कर रहा है और उसकी मंजरियों के रस को पीकर उन्हें नीरव बना रहा है। हवा धीरे-धीरे चल रही है, कोयल कूक रही है। ऐसी दशा में विरहिणी कैसे जीवित रहे? प्रकृति द्वारा निर्मित उद्दीपक वातावरण को देखकर कोई भी विरहिणी जीवित नहीं रह सकती। जितना प्रेम उन्हें मुझसे था, उसे देखकर मैं कह सकती हूँ, कि उनका प्रेम मुझसे कभी नहीं टूट सकता, क्योंकि बड़े लोगों की बातें सदैव स्थिर होती हैं। समुद्र का पानी अपनी मर्यादा में बँधा रहता है, उसी प्रकार बड़े लोगों की बातें अटल होती हैं। कवि विद्यापति कहते हैं कि हे सुन्दरी, तुम्हारा प्रिय गुणग्राहक है। रूपनारायन शिवसिंह किसी को सहज ही नहीं भुला देते।

(२९)

के पतिआ लए जायत रे, मोरा प्रियतम पास।
हिय नहि सहए असह दुख रे भेल साओन मास।
एकसरि भवन पिया बिनु रे, मोहि रहलो न जाय।
सखि अनकर दुख दारुन रे, जग के पतिआय।
मोर मन हरि हरि लए गेल रे, अपनो मन गेल।
गोकुल तजि मधुपुर बस रे, कत अपजस लेल।
विद्यापति कवि गाओल रे, धनि धरु मन आस।
आओत तोर मन-भावनरे, एहि कातिग मास॥

(राधा के द्वारा सखी को अपनी विरह-व्यथा का कथन- हे सखि, मेरे प्रियतम के पास मेरा पत्र कौन ले जाएगा- ऐसा कोई व्यक्ति मुझे दिखाई नहीं पड़ता जो मेरी मर्मव्यथा से भरे पत्र को प्रियतम तक पहुँचा दे। विरह-व्यथा का असह्य दुख अब तो मुझसे सहा नहीं जाता और फिर सावन मास आ गया है, जिससे मेरी व्यथा और भी बढ़ गई है। प्रियतम के बिना इस भवन में मुझसे अकेले रहा नहीं जाता। हे सखि दूसरे के दारुण दुख पर भी संसार में कोई विश्वास नहीं करता। कृष्ण मेरा मन हरकर ले गए हैं और अपना मन भी ले गए हैं। मुझे प्रेम की व्यथा देकर मुझे भूल गए। मेरी स्मृति उनको रह ही नहीं गई। गोकुल छोड़कर मथुरा में बसकर उन्होंने निर्मम होने का काफी अपयश ले लिया है। विद्यापति कवि कहते हैं कि हे सुन्दरि, प्रियतम के आने की आशा रखो। तेरा प्रियतम इसी कातिक मास में आएगा।)

(३०)

चानन भेल विसम सर रे, भूसन भेल भारी।
सपनहुँ नहि हरि आएल रे, गोकुल गिरधारी।
एकसरि ठाढ़ि कदम-तर रे, पथ हेरथि मुरारी।
हरि बिनु देह दगध भेल रे, झामर भेल सारी।
जाह-जाह तोहें ऊधव रे, तोहें मधुपुर जाहे।
चंद्रबदनि नहि जीवति रे, बध लागत काहे।
भनइ विद्यापति मन दए रे, सुनु गुनमति नारी।
आज आओत हरि गोकुल रे, पथ चलु झटझारी॥

(राधा की सखी द्वारा उद्धव से राधा के विरह-दशा का वर्णन।)

(हे उद्धव, चंदन उसके लिए कठोर बाण की तरह पीड़ा देने वाला बन गया है। भूषण उसके लिए भारस्वरूप हो गए हैं। ऐसी दशा में भी गोवर्द्धन पर्वत को धारण करके गोकुल की रक्षा करने वाले कृष्ण स्वप्न में भी उसे नहीं मिले। राधा अकेली ही कदम्ब-वृक्ष के नीचे खड़ी होकर कृष्ण का पथ देख रही है। कृष्ण के विरह में उसका हृदय दग्ध हो रहा है उसकी साड़ी मैली हो गई है। हे उद्धव तुम मथुरा चले जाओ– चन्द्रमुखी राधा अब जीवित नहीं रहेगी। तुम्हीं बताओ उसकी हत्या का पाप किसे लगेगा? मथुरा जाकर कृष्ण को शीघ्र यहाँ भेज दो नहीं तो वह मर जाएगी। कृष्ण इस वध के भागी होंगे। विद्यापति कवि कहते हैं कि हे गुणवती नारी, तुम ध्यान से मेरी बात सुनो। आज कृष्ण गोकुल में आ रहे हैं। अतः उनका स्वागत करने के लिए शीघ्रता से रास्ते में चलो अर्थात् घर से बाहर निकलो।)

सहायक ग्रंथ सूची

१. History of Mithila. Dr. Upendra Thakur

२. मैथिली साहित्यिक इतिहास– डा. श्री दुर्गानाथ झा श्रीश

३. महाकवि विद्यापतिः– आचार्य डा. जयमंत मिश्र

४. विद्यापति – श्री रमानाथ झा, साहित्य अकादमी, दिल्ली

५. वर्षकृत्य (प्रथम भाग) पं. श्रीरामचन्द्र झा

६. History of Tirhut श्रीश्यामनारायण सिंह

७. कल्याणी कोश – पं. गोविन्द झा

८. मिथिलादर्पण (Mithila Darpan) डा. हेतुकर झा

९. भारतीय भाषा परिचय – केंद्रीय हिंदी निदेशालय, दिल्ली

१०. बिहार विहार – कलासंस्कृति एवं युवा विभाग बिहार सरकार,पटना

११. History of Maithili Literature – Dr. Jaikant Mishra

१२. विद्यापति पदावली – डा. देशराजसिंह भाटी

१३. कीर्तिलता – विद्यापति

१४. कीर्तिपताका – विद्यापति

१५. विद्यापतिकाव्य का सांस्कृतिक अध्ययन – डा. अमूल्य वर्मण

१६. मिथिला मिहिर

१७. गीत विद्यापति – डा. महेन्द्रनाथ दुबे

१८. श्री उदयनग्रंथावलि – सं. डा. किशोरनाथ झा

१९. सारस्वतकुसुमांजलि – सं. डा. किशोरनाथ झा

२०. म.म. गोकुलनाथ और उनका रसार्णव – जगन्नाथ झा

२१. विद्यापति अनुशीलन एवं मूल्यांकन – डा. वीरेन्द्र श्रीवास्तव
२२. हिंदी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल
२३. हिंदी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि – डा. द्वारिका प्रसाद सक्सेना
२४. हिंदी भाषा और वैज्ञानिक चेतना – मध्यप्रदेश हिंदी अकादमी
२५. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – डा. रामकुमार वर्मा
२६. हिंदी भाषा का इतिहास – डा. धीरेन्द्र वर्मा
२७. विद्यापति ठाकुर – डा. उमेश मिश्र
२८. हिन्दी साहित्य – डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी
२९. हिंदी साहित्य की भूमिका – डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी

लेखक परिचय



कवि, साहित्यकार जगत् में 'यशस्वी' उपनाम से विदित डॉ. नोदनाथ मिश्र का जन्म 1 सितंबर सन् 1944 ई. में बिहार प्रांतीय (मिथिलाञ्चल के प्रख्यात अचायी मिश्र के वंश में) ग्राम-लालगंज, (सरिसव) जनपद मधुबनी में जन्म। पिता स्व. कुन्दनाथ मिश्र के सान्निध्य में (उत्तर प्रदेश में) पारंपरिक और आधुनिक प्रणाली से शिक्षा दीक्षा।

शैक्षिक योग्यता-नव्यव्याकरण शास्त्री। एम. ए. (हिन्दी-संस्कृत), एल.टी. एम.एड. पी.एच.डी.। विशिष्ट अध्ययन-काव्यशास्त्र तथा भाषा विज्ञान। हिन्दी, संस्कृत और मैथिली में लेखन। **सन् 2011 ई. में 'संस्कृत वाङ्मय में निपुणता' के लिए भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित।**

1. संस्कृत शिक्षण विधि में काव्यालि शैली के प्रवर्तक।

2. आधुनिक संस्कृत लघु नाटिकाओं के रचयिता, जिनका प्रसारण आकाशवाणी पटना, दरभंगा, लखनऊ वाराणसी केंद्रों से। 'संस्कृत नाटक कार्यक्रम' के अग्रणी लेखक।

3. विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में शताधिक रचनाएँ, सांस्कृतिक लेख, कथा, ललित निबंध आदि प्रकाशित।

4. मैथिली में पाँच सौ से अधिक धार्मिक बोधकथाएँ 'मिथिला मिहिर' (पटना) में प्रकाशित।

प्रकाशित पुस्तकें- 1. हिंदी शिशुक्षुओं के लिए 'राष्ट्रभारती' (भाग में)। 2. बाल्मीकि और कालिदास की काव्यकला। 3. नवमालती (संस्कृतनाटिका संग्रह)। 4. कविताविथिः। 5. शिक्षा सूक्ति मुक्तावली। 6. कविकोकिल विद्यापति

कार्यानुभव- **(i)** केंद्रीय विद्यालय संगठन (शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार) के अधीन विभिन्न शैक्षिक पदों पर तथा प्राचार्य के पद पर। **(ii)** राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली में उपनियंत्रक (परीक्षा) के पद पर। **(iii)** मानव संसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षा विभाग (भारत सरकार) में उपशिक्षा सलाहकार (संस्कृत) के पद पर। **(iv)** के.मा.शि.बोर्ड, एन.आई.ओ.एस तथा अन्य शैक्षिक संस्थाओं में शैक्षिक कार्यों से संबद्ध। **(v)** अन्य अनेक केंद्रीय सरकार की संस्थाओं में हिंदी, संस्कृत, मैथिली सबंधी कार्य करने का अनुभव। **(vi)** संप्रति फलित ज्योतिष संबंधी अनुसंधान तथा परामर्श।

संपर्क सूत्र– 'सौभाग्य दर्पण' C 180 द्वितीय तल,

हरिनगर घंटाघर, नई दिल्ली - 110064 मो. 9899110375